

चिनगारी ऐतिहासिक उपन्यास माला–१

कापालिक

पन्द्रह आना

कापालिक

•

जे० पी० गुप्त

चिनगारी ऐतिहासिक-उपन्यास-माला—१

पन्द्रह आना

प्रकाशक
जयन्त कुशवाहा;
चिनगारी-प्रकाशन, बनारस

पुस्तक व्यवसाय में हमारा
युगान्तरकारी चरण

मुद्रक
चिनगारी प्रेस, बनारस

71

प्रकाशकीय—

हिन्दी भाषियों को अल्प मूल्य में, उत्कृष्ट मानसिक-खाद्य देने के निमित्त हमने 'चिनगारी-ऐतिहासिक उपन्यास-माला' एवं 'नागिन साहसिक उपन्यास-माला' का प्रकाशन आरंभ किया है, माला के प्रथम पुष्प प्रस्तुत हैं। हमें आशा ही नहीं, विश्वास है, इनमें आपका स्नेह प्राप्त कर लेने की पर्याप्त आकर्षण-शक्ति है।

इस युग में पन्द्रह आने में १३०-१५० पृष्ठों का सुमुद्रित एवं बढ़िया कागज पर उत्कृष्ट उपन्यास देने का हमारा यह साहस ही है। हमारे इस युगान्तरकारी चरण की प्रगति आपके स्नेह-सहयोग पर निर्भर है।

'चिनगारी-ऐतिहासिक-उपन्यास-माला' में अभी हर मास बौद्धकालीन-ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित होंगे। पोस्टल-विभाग की डाकेजनी से विवश, वार्षिक-ग्राहक नहीं बनाये जायेंगे। आप माला की अपनी प्रति हर मास अपने एजेंट एवं पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्त कर लिया करें।

अहाप्रभु

विशाल अट्टालिका खड़ी-खड़ी ऊँघ-सी रही थी। बहिर्भाग रात की कालिमा में खोया था परन्तु अन्तर्भाग आनन्दोल्लास से दमक रहा था, झूम रहा था। वज्जी-संघ के श्रीसम्पन्न नागरिक नागदत्त के आयुष्मान सुपुत्र शिवदत्त, अभी-अभी वैशाली की प्रख्यात 'रूपाजीविनी' कांचन के केलिकुंज से, मदिर-डगमग-पग आकर द्वार पर खड़े अपने रथ पर बैठे हैं। लावण्यमयी परिचारिका ने उन्हें सावधानी से बिठाकर मधु-सिक्त स्वर में कहा—"अन्नदाता, आप स्वस्थ तो हैं!" उसने नयनों पर कटाक्ष का एक तीक्ष्ण तीर संधान किया। शिवदत्त ने मद-घूर्णित नेत्रों से उसे घूरकर देखा

और खींचकर अपने निकट कर लिया। परिचारिका के होठों पर स्मिति छलकी—"अन्नदाता, मदिरा ने आज आप पर सचमुच विजय पायी है...अपने को स्थिर करें..."अभी वह कुछ और कहने को थी कि शिवदत्त के दाँत उसके कपोल पर जम गये। लटपटे स्वर में उसने कुछ कहा भी, जिसे सुनकर भी परिचारिका समझ नहीं पायी। उसके मुख से एक सीत्कार निकली—"मेरा अहोभाग्य अन्नदाता..."पता नहीं, शिवदत्त ने सुना या नहीं—सारथी ने रथ हाँक दिया था। उसके हाथ में शिवदत्त की फेंकी हुई मणिमाला झूल रही थी। यह उसका पुरस्कार था! माला की ओर मुग्ध-दृष्टि डाल, उसने देखा—रथ आँखों से ओझल हो गया था। उसके मुँह से संतुष्टि का एक लम्बा निःश्वास निकल गया। विमुग्ध-सी वह क्षण भर अपलक निहारती रही। रथ के पहियों की गड़गड़ाहट अब भी कानों में गूँज रही थी।

द्वार की बगल में खड़े प्रहरी ने उसकी ओर बढ़ते हुए कहा—"बड़ी लम्बी-लम्बी साँसें ली जा रही हैं तिलोत्तमा रानी!" तो जैसे वह स्वप्न-जाल से छिटक पड़ी। प्रहरी एकदम पास आकर खड़ा हो गया—"आज सचमुच तुम्हारा सौभाग्य-सूर्य..."

"चुप रह रे!"

"बिगड़ क्यों रही हो रानी!"

"फिर वही..." वह तिनकी—"सीमा का अतिक्रमण करना तुम्हारे लिये शुभ नहीं होगा, बार-बार स्मरण दिलाने पर भी तुम भूल जाते हो सिंहा!..." उसने हाथ की मणिमाला कंचुकी में खोंस ली थी—"देवी कांचन की प्रधान परिचारिका का अपमान करने का तुम्हें साहस ही क्योंकर होता है, मेरी समझ में नहीं आता..."

प्रहरी मुस्कराया, मुस्कान आन्तरिक पीड़ा से लथ-पथ थी—"मेरे दुर्भाग्य की हँसी उड़ाते तुमको लज्जा आनी चाहिये...अभ्यस्त जिह्वा कभी-कभी अनायास ही तुम्हें 'रानी' कह उठती है। क्षमा कर दिया करो, परन्तु ऐसा तुम करोगी नहीं। विगत पाँच-सात मास के जीवन ने तुम्हारे पाषाण-हृदय की

निकट अनुभूति करा दी है...कपोल तुम्हारा क्षत हो गया है...मणि-माला की..."

"चुप नहीं रहोगे ?"

"मुझ अभागे के स्वर को तुम्हारे हृदय ने क्या कम प्रताड़ित किया है, जो अब तुमको इस तरह आक्रोष-प्रदर्शन की आवश्यकता प्रतीत होती है...जाने दो, संभवतः यह सब कहना भी सीमा का अतिक्रमण हो रहा है..."

तिलोत्तमा की चढ़ी भृकुटि तनिक ढीली पड़ी—"तुम तो नाहक ही मेरे सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हो सिंहा !"

"नाहक ही..."

"हूँ...तुम्हारे दुर्भाग्य के लिये मैं उत्तरदायी नहीं। समय की लहरों एवं भाग्य का संकेत था, तुम प्रहरी की सीमा में बँधे रहे और मैं...मैं..."

"वैभव की गोद में जा पड़ी, यही कहना चाहती हो न तुम...ठीक है, तुम्हारा अधिकार है; किन्तु क्षण भर के लिये भी अगर अपने बाल-सखा की स्मृति, तुम्हारे पाषाण हो गये हृदय पर कोई रेखा खींच पाने में समर्थ हो तो यह सिंहा अपने को धन्य समझेगा..." कहते-कहते उसका स्वर आर्द्र हो आया—"जाओ, देवी कांचन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होंगी..." वह घूमने को ही था कि किसी की भारी पग-ध्वनि ने दोनों को चौंकाया। पास ही डरावनी-मुद्रा वाला एक लम्ब-तड़ङ्ग भिक्षु खड़ा था, अपने दीप्त नेत्रों में क्रोध की प्रचण्ड ज्वाला छिपाये। दोनों ने भूमिष्ठ होकर दंडवत किया।

"पधारिये महाप्रभु !" तिलोत्तमा का कंपित स्वर था। प्रहरी निर्भीक भाव से पूर्ववत् खड़ा हो गया।

"कांचन है !"

"हाँ, महाप्रभु !"

"हूँ !" भिक्षु ने हुंकार की—"अभी-अभी शिवदत्त गया है न ?"

"यथार्थ है महाप्रभु..."

"नित्य आता है वह ?"

परिचारिका मौन रही, कहना चाह कर जैसे कह नहीं पायी हो।

"उत्तर दे!"

"नहीं!"

"नहीं!" भिक्षु मेघ-गर्जन सदृश स्वर में गरजा—"मिथ्या भाषण करती है दुष्टा कहीं की..."

परिचारिका सिहर उठी। प्रहरी के नेत्रों में क्रोध कौंधा और विलीन भी हो गया। भिक्षु दोनों से बिना कुछ कहे झपटता हुआ आगे बढ़ गया।

"तिलोत्तमा!"

"हाँ!"

"यह कौन?"

"नहीं जानती...देवी कांचन को 'गुरुदेव' कहते पाया अवश्य है..." वह कुछ सम्हलती हुई-सी जान पड़ी—"सिंहा, एक बात कहूँ?"

सिंहा गम्भीर भाव से उसकी ओर निहारता रहा—मौन तिलोत्तमा चंचल-सी हो रही थी। भीत दृष्टि से उसने अपने चारो ओर देखा, आस-पास एकदम सन्नाटा था।

"तिलोत्तमा!" सिंहा ने टोंका।

तिलोत्तमा चौंकी—"सिंहा, कल भाण्डागारिक अतुलसेन का दस वर्षीय बालक सहसा लुप्त हो गया...तुमने सुना था...इधर पाँच-सात मास से वैशाली में बालकों के लुप्त हो जाने की घटनाओं का जैसे ताँता लग गया है...कल संध्या से ही 'संस्थागार' में वज्जी-संघ के सदस्यों की मंत्रणा हो रही है।"

"हाँ!"

तभी अन्दर से एक वृद्धा परिचारिका ने आकर कहा—"वत्से, देवी कांचन तुझे स्मरण कर रही हैं..." वह सिंहा की ओर उन्मुख हुई—"वत्स सिंहा, तू भोजनादि से निवृत्त हो गया?"

"नहीं माता!"

"क्यों, अर्द्ध-रात्रि की वेला होने को आई और तू...वत्से तिलोत्तमा,

तू अन्दर जा, विलम्ब देख कर देवी कांचन कुपित हो उठेंगी...और हाँ, देख इस महाप्रभु की कुदृष्टि से अपने को बचाये रखना..."

"तिलोत्तमा..." सिंहा ने पुकारना चाहा परन्तु वृद्धा ने उसे इशारे से रोक दिया। तिलोत्तमा अन्दर चली गई थी—"माता, यह महाप्रभु मुझे स्वच्छ-हृदय नहीं प्रतीत होता...उसकी आकृति जितनी भयप्रद है, अन्तर् भी उतना ही..."

वृद्धा ने एक गहरी साँस ली और—"वज्जी-संघ पर अभाग्य की घटायें घिरने ही वाली हैं सिंहा ! स्नेह, सौहार्द एवं मतैक्य के पोषक वज्जी-संघ में षड्यंत्र के घुन लग चुके हैं...भगवान् तथागत इस समय कहाँ विहर रहे हैं, जानता है ?'

"सुना है, वे इस समय मगध-राज्य में हैं माता !"

"ओह !"

"माता !"

"सिंहा, तब तो...तब तो अनर्थ..."

"तुम्हारा तात्पर्य ?" सिंहा शंकित हो उठा।

"वज्जी-संघ का पतन !"

"कहती क्या हो माता !"

"वज्जी का पतन अवश्यम्भावी है सिंहा ! कोई कुछ नहीं कर सकता..."

"कारण ?"

"कारण मत पूछ सिंहा !"

"क्या हो रहा है !" एकाएक महाप्रभु की गर्जना सुनाई पड़ी। दोनों तत्क्षण नत-मस्तक हो उठे। महाप्रभु पास आकर खड़े हो गये—"तेरा कार्य मंत्रणा का है रे शठ!—मुझसे कुछ भी छिपा नहीं...और तू परिचारिका... हट जा मेरे दृष्टि-पथ से..." कहते-कहते उनके सघन-श्मश्रु भयानक रूप से तन उठे। वृद्धा मंथर गति से अन्दर चली गयी।

"मेरे साथ आ !"

सिंहा हिचकिचाया—"महाप्रभु !"

"आ !" कहते हुए महाप्रभु ने अपने पग बढ़ा दिये। सिंहा को न चाहक भी अनुसरण करना पड़ा। उसे लग रहा था जैसे कोई अज्ञात शक्ति उ महाप्रभु के चरणों का अनुसरण करने को बाध्य कर रही हो।

"महाप्रभु !" मुख्य पथ पर आकर वह ठमक गया—"मेरा कर्त्तव्य...

"आ-आ !" महाप्रभु ने अट्टहास किया। सिंहा को लगा कि उसके अन्त का कोना-कोना उस भयंकर अट्टहास से काँप उठा हो। मुख्य पथ से महाप्र जब एक अँधेरी गली में प्रविष्ट हुए तो सिंहा शंकित हो उठा। वह अपने उठ हुए चरणों को रोकना चाहता परन्तु वे अब वे उसके वश में नहीं रह गये थे।

"क्या नाम है तेरा ?"

"सिंहा !"

"हूँ !" उसे लगा जैसे महाप्रभु का स्वर किसी गहरे कूप के अंदर से आ रह हो। पैरों के नीचे की भूमि गीली मिलने लगी थी। उसने अनुमान लगाया— वह इस समय ऐसे स्थान पर खड़ा है, जहाँ उसके चरण सम्भवतः प्रथम बा पड़े हैं। अन्धेरे में वह कितना रास्ता तय कर चुका है, यह अनुमान कर पान संभव नहीं था। सिर के ऊपर दृष्टि उठायी और तब उसका हृदय तीव्र वेग से धड़क उठा—अब तक नक्षत्रों की भीड़ में दमकते व्योम-मंडल का कहीं पता नहीं था—घना अन्धकार छाया हुआ था। पागल की भाँति उसने इधर-उधर हाथों से टटोलने की चेष्टा की परन्तु अन्धकार के सिवा और हाथ नहीं आया। मुख से चीत्कार निकलने को हुई पर गला घुँटकर रह गया। सारा शरीर प्रकंपित हो उठा उसका। दायाँ हाथ कृपाण की मूँठ पर बैठा तो सही पर वहीं जड़-सा होकर पड़ा रह गया—"महाप्रभु !...महाप्रभु !..." घुँटता हुआ स्वर अँधेरे में गूँजकर अट्टहास का रूप ले उठा। महाप्रभु का कहीं पता न था। उसने अपने को क्रमशः मूर्च्छित होता हुआ पाया...

उसके मन-मस्तिष्क का चेतन आस-पास के उस गहन-अन्धकार में घुँटता जा रहा था...

केलि-कुंज

झरोखे से उद्दंड प्रातःकालीन पवन के झकोरे कुन्तल-पाश से छेड़खानी कर रहे थे। कांचन की परिश्रान्त-सी काया पर्यङ्क पर निद्रादेवी के हिंडोले पर झूल रही थी। रात्रि में मदिरा-अतिरेक के कारण उसकी मुख-श्री म्लान हो आयी थी। साँसों की गति के साथ उठ-बैठ रहे उरोजों में आह्वान की वह चुम्बकीय शक्ति निष्क्रिय-सी हो रही थी, जिसमें वज्जी संघ का तरुण-वर्ग अनायास ही खिंचा आता था। उसका सम्पूर्ण शरीर नग्न था।

"देवि!" द्वार पर झूल रहे स्वर्ण-चित्रित प्रच्छद-पट से झाँक कर तिलोत्तमा ने मधुर स्वर में पुकारा—"प्रातःकाल हो गया देवी, निद्रा त्यागिये..." कहती हुई वह पास चली आई। उत्तुङ्ग उरोजों एवं सुपुष्ट जंघाओं से उसकी दृष्टि उलझ कर रह गयी। अनायास ही उसका मन घृणा से भर उठा। अर्द्ध-रात्रिपर्यन्त कांचन अपने शरीर को वासना की हाट बनाये रहती थी—उसके स्पष्ट-चिह्न अब तक शरीर के भिन्न-भिन्न अंशों पर विद्यमान थे—मुख से झाग-सा निकलकर कपोलों पर सूख गया था। उसने दोनों हथेलियों से अपनी आँखें बन्द कर लीं। तभी कांचन भुनभुनाई, ढँपी हुई पलकों में कम्पन भर उठा।

"कौन है?"

"मैं हूँ, तिलोत्तमा...उठिये...शय्या त्यागिये...स्नान करानेवाली परिचारिका प्रतीक्षा कर रही है देवि!"

एक श्रान्त-अँगड़ाई के साथ कांचन उठ बैठी—"ओह, बहुत विलम्ब हो गया रे तिलो...तुझे और पहले आना चाहिये था..."

"मैं तीन बार आकर लौट चुकी हूँ, देवि !"

"हूँ !"

तिलोत्तमा ने लपककर स्नान-वस्त्र सामने कर दिया।

"तिलो !"

"आज्ञा, देवि !"

"मुझे देख रही है !"

"देवि..."

"कैसी हूँ ?"

"मैं...मैं भला क्या..."

"क्यों ?"

"मैं नारी हूँ, देवि..." तिलोत्तमा घबरा-सी उठी थी—"नारी शारीरिक-आकर्षण का मूल्य तो पुरुष की दृष्टि ही आँकती है..."

कांचन अट्टहास कर उठी—बड़ा वीभत्स लगा तिलोत्तमा को अट्टहास। संकुचित-सी वह निहारती रही उसे। कांचन अपने शरीर की नग्न को तीखी दृष्टि से देख रही थी—"ठीक कहती है तू तिलो ! आकर्षण स विपरीतगामी होता है...मुझमें-तुझमें कोई मौलिक-भेद भी तो नहीं...कह उसने अपनी नग्न जाँघ पर धीरे से थपकी दी। तिलोत्तमा के नयन लज्जाव हो गये। कांचन का वह आचरण नारीत्व के शील की सीमा तोड़ रहा था।

कांचन के पर्यङ्क से उतरते ही तिलोत्तमा ने उसके शरीर की नग्नता स्नान-वस्त्र से ढँक देना चाहा, पर कांचन वैसे ही दर्पण की ओर बढ़ गयी दर्पण के समक्ष खड़ी होकर वह देर तक अपने अंगों का निरीक्षण करती रही

"देवि !"

"इधर आ तिलो..."

"आप स्नान से निवृत्ति पा लें देवि..."

"चुप रह !...चल इधर..."

कांचन ने उसे खींच कर अपने पास कर लिया। वह चाह कर भी विरो

नहीं कर पाई...उसी समय किसी की पग-ध्वनि आई और दूसरे ही क्षण उन्मादी-सा शिवदत्त अन्दर घुस आया। कांचन के हाथ से अपने को छुड़ा कर तिलोत्तमा एक ओर सिमट कर खड़ी हो गयी।

"आयुष्मान् शिवदत्त...आप..."

कांचन की नग्न देह को अपनी सबल भुजाओं में आबद्ध करता हुआ शिवदत्त बोला—"मैं तुमसे विलग होकर क्षण भर..." कहते-कहते उसकी दृष्टि जब कांचन के मुख की ओर गयी तब जैसे उसका सारा आवेग शान्त हो गया और—"ओह, तुमने अभी स्नान से निवृत्ति नहीं पाई..."

"क्यों?"

भुज-बंध खुल गया था। शिवदत्त दूसरी ओर मुँह करके खड़ा हो गया।

"आयुष्मान् को क्या हो गया..." कांचन का स्वर कंपित था।

"कुछ नहीं, मैं बाहर जाता हूँ, तुम स्नान के उपरान्त..."

"सुनो..."

मगर वह बिना उसकी ओर देखे, झपटता हुआ बाहर चला गया। कांचन ठगी-सी खड़ी रह गयी। तिलोत्तमा इस बीच बाहर चली गयी थी। शिवदत्त को तुरत ही बाहर आता देख, वह चकित-भाव से पुनः अन्दर आई तो देखा, कांचन पुनः पर्यङ्क पर पड़ गयी थी।

"देवि!" उसने पास आकर पुकारा, पर कांचन बोली नहीं—"आयुष्मान् शिवदत्त चले गये देवी!"

"हूँ!"

"क्यों?"

"नहीं जानती..."

तिलोत्तमा सिहर उठी। उसने आज जो भाव कांचन की मुद्रा पर तिरता हुआ पाया था, वह जितना भयोत्पादक था उतना ही नवीन भी। वह इतना हिंस्र भी कभी दीख सकता है, कल्पना नहीं की थी उसने। उसके ओंठ आवेश से फड़क रहे थे, आँखों में वैसी ही चमक थी, जैसी घायल शेरनी

में। कारण समझते उसे विलम्ब न हुआ। सारी स्थिति उसके सजग मि
में देखते ही देखते स्पष्ट हो आई। अब तक वह अपने रूप-जाल में
को फँसाती रही है, उसकी आँखों के मात्र संकेत पर वज्जी ही
अन्यान्य देशों के तरुण-हृदयों में वासना का ज्वालामुखी धधक उठता
बड़े-बड़े श्रीमन्तों के मस्तक उसके पैरों पर लोटने को तत्पर हो जाते थे प
आज?—आज उसके अभिशप्त नारीत्व को ऐसे ही पुरुष ने, ऐसे हीतरुण-ह
ने ठोकर लगाई थी। उसका अमोघ कटाक्ष व्यर्थ हुआ था, उसका उन्म
यौवन, जिसने सदैव विजय का दीप सँजोया था—बुरी तरह तिरस्कृत हो
छटपटा रहा था।

"पुरुष...अन्धा पुरुष...मैं यों मसलकर रख दूँगी..." वह मन ही
बड़बड़ाई और उत्तेजित-भाव से उठकर खड़ी हो गयी। मुद्रा पर ना
अपमान की कालिमा के स्थान पर आवेश की लालिमा थी—उपेक्षा की अ
में झुलसी हुई कालिमा लहलहा उठी—उसकी लहलहाहट में प्रतिशोध
अंगारों की धधक थी। उठकर उसने दर्पण की ओर दृष्टि फेरी तो स
उत्तेजना घुलती हुई-सी प्रतीत हुई।

"देवि!"

"हूँ, मेरा मस्तिष्क ठीक नहीं तिलो!"

"कारण?"

कांचन ने जैसे कुछ सुना ही नहीं—"क्या मैं घृण्य प्रतीत हो रही हूँ...

"नहीं तो, आपकी मुख-श्री पूर्ववत् तेजोमयी है देवी, क्या आर्य शि
ने आपका अपमान किया है?"

"नहीं!"

"फिर?"

"कुछ नहीं!"

तिलोत्तमा को फिर पूछने का साहस न हुआ। उसने चुपचाप कांचन क
स्नान-वस्त्र पहना दिया।

"तिलो !"

"आज्ञा देवि !"

"शिवदत्त बाहर होगा, उसे मेरे स्नान कर लेने तक रोक रखने का दायित्व तुम पर..."

"जो आज्ञा..." कहकर तिलोत्तमा द्वार की ओर मुड़ गयी।

"और सुनो !" कांचन ने पुकारकर कहा—"उससे बताना, कल रात में अस्वस्थ हो गयी थी...मूर्ख, मुझसे घृणा करता है..."कहते-कहते उसके अधर दाँतों के नीचे आ गये। आवेग से उसकी मुख-मुद्रा क्षण-भर के लिये रक्तवर्ण हो उठी। तिलोत्तमा के चले जाने के बाद, कई क्षण तक वह अपने आप में खोई-सी खड़ी रही। मन का उद्वेग निःश्वासों के रूप में निकला पड़ रहा था। आँखों में रह-रहकर ज्वाला-सी कौंध जाती थी, अपने आपको प्रकृतिस्थ करने में उसे कम प्रयत्न, कम परिश्रम नहीं करना पड़ा। जैसे-तैसे शरीर पर स्नान-वस्त्र लपेट वह स्नानागार की ओर बढ़ी तो उद्वेग के कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं हो रहे थे।

● ●

एक लम्बे-चौड़े कक्ष में शिवदत्त बड़ी विकल-मुद्रा में इधर-उधर फिर रहा था। कक्ष में, दीवारों पर किसी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित, कांचन की विभिन्न नृत्य-मुद्रायें अंकित थीं। धरातल पर काशी का विख्यात-महार्घ आस्तरण बिछा था। एक चन्दन की स्वर्ण-मंडित पीठिका पर स्वर्ण-आसव-पात्र सुव्यस्थित थे। यही कांचन का कला-निकुंज था। चारों ओर वैभव एवं कला-केलि की छटा बिखर रही थी।

"आवरण...आवरण...स्वर्गिक-सुषमा के अन्तराल में नरक का रौरव... मोहाच्छन्न मन के इंगित पर कितनी घृणित नाटिका का अभिनय चल रहा था...अन्धा बन गया था...वासना की आँधी में अपने आपको भूल बैठा था—ओह !" अपने झंझावाती मस्तक को फटता हुआ-सा अनुभव किया उसने।

"आर्य..." उसी समय पीछे से वीणा की झंकार-सी आई—"
आपको बहुत उद्विग्न पा रही हूँ अन्नदाता...आप कुछ अस्वस्थ प्रती
रहे हैं..." उसने घूमकर देखा, ओठों पर विद्युत-सी मुस्कान एवं हाथ
ताम्बूल-पात्र लिये तिलोत्तमा खड़ी थी। वह पास आकर खड़ी हो गयी;
भी वह अपने आप में ही डूबा रहा। तिलोत्तमा ने हाथों का ताम्बूल-पात्र
ओर रख दिया और—"हमसे कोई अपराध तो नहीं हुआ अन्नदाता!"

"नहीं!" उसका स्वर इतना रूखा था कि तिलोत्तमा को आश्चर्य
बिना न रहा। सहम-सी गयी वह। सहसा शिवदत्त दो कदम उसकी ओर
और गरज उठा—"चली जाओ, नारी छलना होती है...उसके रूप की
मोहकता कृत्रिम है...चली जाओ, मैं क्षण भर के लिये भी तुम्हारी उपस्थि
सहन नहीं कर सकता..." कहकर उसने दोनों हथेलियों से अपना म
भींच लिया।

"आर्य...मैं हूँ तिलोत्तमा"

"चली जाओ, मैं अबतक दृष्टिहीन था...आज मेरी खोयी दृष्टि मिल
है...मैं तुम सब से घृणा करता हूँ..."

"अपने को संयत करें आर्य, देवी कांचनमाला कल रात्रि को अस्व
थीं...वे अभी आपकी सेवा में प्रस्तुत हो रही हैं..."

"कांचन अस्वस्थ थी..."

"हाँ, श्रीमन्!"

शिवदत्त वहीं पर धम्म से बैठ गया। उसके अन्तर में उमड़ रही आँ
अब थम-सी रही थी। स्वर के आवेग में कम्पन भर उठा—"मुझे हो क
गया था तिलोत्तमा!...मैं...मैं अपने आपको भूलता जा रहा था..."

"आप स्वस्थ-चित्त हो विश्राम करें आर्य शिवदत्त!...प्रातःकाल आप
पधारने का प्रथम अवसर है संभवतः...कोई विशेष प्रयोजन..."

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। पता नहीं, तिलोत्तमा की बात सुन

पाया या नहीं—विचार मग्न-सा, आँखें बन्द किये बैठा रहा वह—मौन, निश्चल !

तिलोत्तमा ने ताम्बूल-पात्र से दो स्वर्ण-पत्र-मंडित बीड़े उसकी ओर बढ़ाये परन्तु उसने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया—"आयुष्मान् !" उसने अपनी ओर उसका ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया—"ताम्बूल ग्रहण कीजिए अन्नदाता !"

"नहीं !"

"क्यों ?"

"चुप रहो !" उसने डाँटा ।

तिलोत्तमा के हाथ में कम्पन भर उठा । बीड़े गिर पड़े ।

"चली जाओ !" शिवदत्त ने आदेश दिया और तभी उसकी आँखें तिलोत्तमा की छलक पड़ने को प्रस्तुत आँखों से जा टकराईं, उसमें पीड़ा की घनीभूत छाया स्पष्ट लक्षित हुई ।

"तिलोत्तमा !"

वह कुछ बोली नहीं, स्वर कंठ के पास आकर डूब-से गये ।

"ताम्बूल दो तिलोत्तमा !"

तिलोत्तमा के कंपित हाथ ने पात्र से दो बीड़े उठा कर पुनः बढ़ा दिये । शिवदत्त ने प्रसन्नमन मुँह में रख लिये ।

"मेरी मनःस्थिति ठीक नहीं, तुम कुछ अन्यथा नहीं समझोगी..."

तिलोत्तमा ने अपने को स्थिर किया—"आप स्वस्थ हुए, मेरे लिए अपार प्रसन्नता का वरदान मिला..." कह कर उसने ओंठों पर मुस्कान लाने की चेष्टा की परन्तु असफल रही । शिवदत्त से छिपा न रहा । मुँह में रखा ताम्बूल ज्यों का त्यों पड़ा रहा । उसकी दृष्टि अपनी ओर स्थिर पा, तिलोत्तमा चौंकी—"आपको कोई चिन्ता स्थिर नहीं रहने दे रही है..."

"आयुष्मान् शिवदत्त, परिचारिका से बातें हो रही हैं ?" सामने कांचन खड़ी थी । शिवदत्त भौचक्का-सा देखता रह गया—क्षण भर पूर्व उसने कांचन

का जो रूप देखा था, वह एक वीभत्सस्वप्न-दृश्य-सा लगने लगा। वह
समय साक्षात् रति-सी बनी थी। स्नानादि से निवृत्त होने के उपरान्त उसके
की म्लानता, मन की शिथिलता-निस्तेजता जैसे धुल-पुँछ गयी थी। वह आ
शिवदत्त की बगल में बैठ गयी। तिलोत्तमा उठकर खड़ी हो गयी। कांच
सस्मित कहा—"तिलो, आर्य शिवदत्त के लिये जलपान की व्यवस्था करो

"नहीं कांचन !"

"क्यों ?" कांचन ने आश्चर्य का भाव जताया—"ऐसा आखिर क्यों

"मैं निवृत्त होकर चला हूँ !" शिवदत्त के स्वर का भारीपन एवं त
अब स्वाभाविक रूप से मधुर हो उठा था—"तुम तो नाहक ही चिन्तित
हो !—तिलोत्तमा, अब तुम जा सकती हो, मुझे किसी वस्तु की आवश्य
होगी तो बुला लूँगा..."

उसके इस बदले स्वर, परिवर्तित भंगिमा का आभास पाकर तिलोत्तमा
कम आश्चर्य न हुआ। अब तक चित्त की अस्थिरता के लिये नारी का
नाम लिया जाता था पर स्थिर कहा जानेवाला पुरुष, क्या नारी से
अस्थिर-चित्त है ?—यही सब सोचती हुई वह चली गयी।

"कांचन !"

"हूँ !"

"मुझसे रुष्ट हो न ?"

"अवश्य !—नारी के लिये अपने प्रिय के द्वारा मिला अपमान संभव
सर्वोपरि अभिशाप होता है, ऐसे अभिशप्त-जीवन की अपेक्षा वह मरण
उत्तम समझती है। नहीं-नहीं, इस संबंध में मैं आपका कोई भी प्रति
मानने को तत्पर नहीं। व्यर्थ चेष्टा नहीं करें। जाने-अनजाने अगर मु
कोई अपराध बन पड़ा हो तो आपके एक इंगित पर उसका कोई भी प्रति
कर सकती हूँ। आपको संतुष्ट कर पाऊँ, यह मेरे जीवन की एक मात्र अभिल
है। आर्य ! इतने दिन हो गये परन्तु देखती हूँ, ऐसी आशा मैंने स्वप्न

भी नहीं की थी...'' कहकर वह चुप हो रही। धारा-प्रवाह रूप में कांचन के मुख से इतनी सारी बातें शिवदत्त ने प्रथम बार ही सुनी थीं।

''मैं तुम्हारा अपमान करूँगा, ऐसा तुम्हें सोचना भी नहीं चाहिये कांचन!'' शिवदत्त का सम्पूर्ण उद्वेग, कांचन के लावण्य में खो-सा गया— ''मैं कल रात से ही विचित्र मनःस्थिति में पड़ा हूँ। हमारा वज्जी-संघ इस समय कुचक्रियों एवं साम्राज्यवाद के पोषकों की गिद्ध-दृष्टि का केन्द्रस्थल बना हुआ है। लिच्छिवियों से अनेक बार मुँह की खाने के उपरान्त, मगध-नरेश अजातशत्रु छल से वश में करने की कुचेष्टा कर रहा है। उसके गुप्तचरों का जाल वैशाली के कोने-कोने में बिछ गया है। उसका कूटनीतिज्ञ महामात्य वर्ष-कार स्वयं छद्मवेश में वैशाली आ पहुँचा है या आ जायेगा...लिच्छिवियों के शान्त-मधुर-जीवन में भयानक उथल-पुथल की सृष्टि होनेवाली है...'' कहकर उसने गंभीर-भाव से कांचन की ओर दृष्टिनिक्षेप किया। कांचन की मुख-मुद्रा क्षण-क्षण परिवर्तित हो रही थी। शिवदत्त लक्ष्य न कर पाये, इसके लिये वह सचेष्ट भी कम न थी।

''तब तो निस्सन्देह बड़ी चिन्त्य समस्या आ गयी है, इन कुचेष्टाओं के प्रतिकार के निमित्त सावधानता की आवश्यकता है...''

''देखो, आज संस्थागार में इसी समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाने वाला है। लिच्छिवियों की अपनी ऐक्य-शक्ति के समक्ष बल से कोई विजय पाने का सपना ही देख सकता है...पर...तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा, शत्रु ने हमारी अजेय ऐक्य-शक्ति पर ही व्याघात करने की योजना बनाई है... वैशाली में शिशु-अपहरण की घटनाओं के मूल में...''

''क्या?''

''हाँ, ये घटनायें शत्रु की किसी भयंकर चाल का संकेत कर रही हैं कांचन!'' शिवदत्त ने एक लम्बी साँस ली—''कुछ पथ-भ्रान्त बौद्ध-भिक्षु शास्ता के पवित्र नियमों की अवहेलना कर, वाम-मार्ग की ओर उन्मुख हो

उठे हैं। वैशाली में इनका कोई ऐसा मठ, अत्यन्त गुप्तरूप से स्थित है, इन पापिष्ठों को प्रश्रय मिल रहा है..."

"शिशु अपहरण से उनका तात्पर्य ?"

"जाने दो कांचन !"

"बताओ न !" कांचन मचल गयी—"मुझे बड़ा भय लग रहा है कहती हुई वह शिवदत्त से एकदम सट गयी। भोला युवक उसके मदिर के संस्पर्श से उन्मत्त-सा हो गया। उसका सम्पूर्ण शरीर एकबारगी झनझना

"तुम भय न करो प्रिये !"

"कैसे न भय करूँ ?"

"मैं जो हूँ..."

"तुम मेरे लिये कर भी क्या सकते हो प्राण !—मैंने सुना है, इन मार्गियों की साधन-विधि अत्यन्त घृणित एवं भयंकर हुआ करती है... साधन में नारी की भी आवश्यकता प्रमुख स्थान रखती है।"

"है तो !" कांचन की भयविह्वल मुद्रा देख, शिवदत्त हँस पड़ा— शिवदत्त तुम्हारे लिये अपने प्राण होम कर देगा कांचन..."

"तुम तो मुझसे घृणा करते हो ?" कांचन की आँखें, विचित्र रू चमक उठीं, उस चमक से शिवदत्त की नसों में लहू तीव्र वेग से प्रवह हो गया।

"तुमसे मैं घृणा करता हूँ, किसने कहा ?"

"तुमने "

"मैंने ?"

"हाँ !" कांचन ने उसके कन्धे पर मस्तक टिका दिया—"अभी-अ तुम परिचारिका से क्या-क्या कहते थे, मैंने सब सुन लिया है..."

"ओह, वह सब तो मैं अचेतन में बक गया था कांचन !" शिवदत्त अधरों ने कांचन के ओंठों पर एक छाप लगा दी। देखते ही देखते उ ललितांग आलिंगनबद्ध हो उठा।

"तुम्हें नारी छलना लगती है प्राण !"

"नहीं प्रिये !"

"तब ?"

"वह...वह...तो हमारी जीवनधारा है, जिसके सूख जाने पर पुरुष निरुपाय हो जाता है...प्रकृति-पुरुष के सम्मिलन का ही दूसरा पर्याय स्वर्ग है, इसे क्यों भूल रही हो तुम !" उसके अधर पुनः बढ़ रहे थे कि हाथों में मिष्ठान्नों का स्वर्णथाल लेकर तिलोत्तमा उपस्थित हुई। वह सम्हलता हुआ-सा कांचन की ओर लोलुप-दृष्टि से देखने लगा। कांचन अब भी उसके आलिंगन-पाश में बद्ध थी।

"आयुष्मान् के लिये जलपान प्रस्तुत है !" तिलोत्तमा ने थाल रखते हुए कहा—"और कोई आज्ञा ?" और सलज्ज-भाव से वह एक ओर खिसककर बैठ गयी।

"थोड़ा आसव लोगे ?"

"नहीं कांचन !"

"क्या हुआ ?"

"मुझे अभी संस्थागार पहुँचना है !"

"मैं रोकूँगी नहीं तुम्हें !"

"पर..."

"पर-वर कुछ नहीं तिलो ! आसव-पात्र प्रस्तुत करो !" कांचन ने आज्ञा दी।

"प्रातःकाल..."

"तो आये ही क्यों ?—तिलो..."

तिलोत्तमा ने आसव-पात्र की ओर हाथ बढ़ाया।

"नहीं !"

"मेरे हाथ से भी नहीं..."

"कांचन !"

कांचन ने तिलोत्तमा के हाथ से चषक लेकर फेंक देना चाहा परन्तु विह
से शिवदत्त ने उसे झपटकर पकड़ लिया—"संस्थागार न जाऊँगा, न स
परन्तु तुम इस प्रकार कुपित न होओ..."कहकर उसने एक साँस में च
रिक्त कर दिया।

"मेरे प्राण !"

"अब तो तुम्हारे मन में कोई सन्देह नहीं..."

कांचन ने उसे अपनी बाँहों में भर लिया। शिवदत्त पर मदिरा ने अप
प्रभाव आरंभ कर दिया था। उसकी शिराओं में रक्त-प्रवाह तीव्रत
होता जा रहा था।

"प्राण..."

"रानी...कांचन...मुझसे तुम आज माँग लो, तुम्हारे तनिक-से संकेत
नक्षत्रों तक को तोड़ ला सकता हूँ...बोलो, बोलो..." वह अपने आप ही
झूमकर बोला। कांचन ने उसके उत्तरीय में अपना मुख छिपा लिया।

शिवदत्त की भड़की हुई कामाग्नि में जैसे घृत की आहुति पड़ गयी हो
उसने उन्मत्त होकर कांचन के अंग-प्रत्यंग का चुम्बन ले डाला। कांचन
वक्षोज अस्त-व्यस्त हो रहे...उसने अपने आपको पूर्णरूप से उसको अर्पि
भी कर दिया।

"आर्य-पुत्र !" शिवदत्त कांचन की सघन-केश-राशि में अपना मुख छि
लेने का प्रयत्न करता हुआ मदविह्वल-सा किंचित चौंककर उन्मीलित नेत्रों
उसकी ओर देखा। प्रश्न का भाव स्पष्ट हो उठा। कांचन की भुज-वल्लरियों
कम्पन अनुभव किया उसने। वह कुछ कहना चाहकर भी जैसे कह न
पा रही थी !

"बोलो प्रिये !" उसके मुख से अस्फुट स्वर निकला—"शिवदत्त क
रोम-रोम तुम्हारे सौन्दर्य-कारा में बद्ध हो चुका है फिर यह संकोच क्यों ?"
कहकर उसने कांचन के अरुणाधर केअनेक चुम्बन ले डाले।

"एक तुच्छ प्रार्थना..."

"प्रार्थना.. "

"हूँ, तुम घबरा-से क्यों गये आर्य !"

"नहीं, ऐसा तो...एक तुच्छ प्रार्थना के निमित्त तुम इतना उलझ उठी हो कि मैं चकित हो गया हूँ..." शिवदत्त ने कामाग्नि की चटखती हुई लपटों से एक झटके साथ, सजगता की शीतल पर उद्वेलित धारा में अपने आपको घसीटा—"मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कांचन, तुम इस समय अन्तर्भूत चिन्तना में उलझ गयी हो। तुम्हारे इस भाव-परिवर्त्तन का कारण कोई तुच्छ प्रार्थना नहीं..."

"नहीं आर्य..."

"तब ?"

"मैं आज संस्थागार में तुम्हारे साथ प्रस्तुत रहना चाहती हूँ..."

"आज..."

"हूँ !"

शिवदत्त विचारमग्न हो उठा। कांचन की यह आकांक्षा, जितनी ही आकस्मिक थी, उतनी ही आश्चर्यमयी भी। उसके मस्तिष्क में विद्युत-गति से अनेकानेक विचार कौंध गये—"यह संभव नहीं कांचन ! इस समय वैशाली के स्वच्छ वातावरण में आशंकाओं के परमाणु घुल गये हैं। वज्जी-संघ के जीवन-मरण की आगत विपत्ति की कल्पना तो करो ! मगध-गुप्तचरों से वैशाली का कोना-कोना..."

कांचन उससे अलग होने का प्रयत्न करती हुई बोली—"समझ गई, साधारण पुरुषों की जो वृत्ति होती है, उससे तुम भिन्न नहीं हो। 'तुम्हारे संकेत पर गगन के नक्षत्रों को ला सकता हूँ'—क्या मिथ्या नहीं था ?—अब भी अपने इस कथन की पुष्टि करने को तुम तत्पर रहोगे ?..."

शिवदत्त किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा उसकी ओर निहारता रहा—"मुझे समझने में तुमने भूल की है कांचन !...ओह, तुमने सचमुच मुझे धर्म-संकट में डाल दिया...आज जो मन्त्रणा हो रही है, उसमें कुछ गण्यमान्य व्यक्ति ही प्रवेश पा सकते हैं और..."

"तुमसे भिन्न हूँ तब ?"

"नहीं, भ्रमित हो गयी हो कांचन !" कांचन की मुख-मुद्रा म्लान गयी, शिवदत्त की कामाग्नि पर चिन्ता की एक मोटी तह बिछ गयी थी। समय घबरायी-सी तिलोत्तमा ने प्रवेश किया—"अन्नदाता, एक प्रतिह द्वारदेश पर प्रस्तुत हुआ है। संस्थागार से सन्निपात-भेरी का नाद हो चु है—और देवि, अपना प्रतिहारी सिंहा कल रात्रि से ही लुप्त है, उस कोई..."

"चुप रह !" कांचन ने अपनी अस्त-व्यस्त भंगिमा स्थिर की। कुछ पूर्व शिवदत्त की वासनोत्तेजना से प्रस्तुत चिह्न अब भी उसके शरीर परिलक्षित हो रहे थे। देखकर तिलोत्तमा का मन जाने कैसा हो गया। कांच की डाँट पाकर वह जाने को पग उठाने ही वाली थी कि शिवदत्त सह उठकर खड़ा हो गया और कांचन को लक्ष्य कर बोला—"प्रिये, इस समय मु आज्ञा दो। सन्ध्याकाल पुनः प्रस्तुत होऊँगा और देखो, अपने मन में कु अन्यथा नहीं लाना। संस्थागार की कार्य-प्रणाली किसी अन्य दिन तु अवश्य देखने को मिलेगी, विश्वास रखो..." उसने चलने के लिये प उठाते हुए तिलोत्तमा की ओर देखा—"परचारिके, प्रतिहारी ने कोई औ विशेष संवाद तो नहीं दिया ?"

"नहीं अन्नदाता !"

"अच्छा तो कांचन प्रिये, विदा !..." कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कांचन खिसियानी-सी दाँत पीस रही थी।

"देवि !"

"क्या है ?"

"सिंहा का..."

"चली जा मेरे दृष्टि-पथ से, जानती थी मैं शिवदत्त के साथ क्रीड़ा-रत हूँ ऐसे समय व्यवधान बनने के निमित्त तू आई ही क्यों थी ?"

"देवि, प्रतिहारी..."

"मूर्ख, तू उसे रोक भी तो सकती थी..."

"देवि...सन्निपात-भेरी..."

कांचन क्रुद्ध नागिन की भाँति फुफकार उठी—"हट जा, मेरे समक्ष से..." और धक्का देती हुई अपने शयन-कक्ष की ओर चली गयी। आवेग से उसका संपूर्ण शरीर तप्त हो रहा था। आँखें रह-रहकर रक्त-वर्ण हो उठती थीं। वस्त्र अशुचि हो गये थे। उन्हें खींचकर एक ओर फेंक दिया और जल्दी-जल्दी बहुमूल्य भूषा धारण करने में दत्त-चित्त हो गयी। अपने केलि-कुंज में वह साक्षात् ब्रह्मा को भी पथ-विमुख करने की शक्ति रखती थी; परन्तु आज शिवदत्त ने उसकी इस अजेय-शक्ति पर भयानक आघात किया था। अपने नयन-बाण की असारता का बोध होते ही जैसे उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण ओज विनष्ट हो गया।

"कांचन!" पीछे मुड़कर देखा तो वही रात्रिवाला भिक्षु आँखों में आक्रोश का भाव लिये खड़ा था। श्मश्रु के बाल असाधारण रूप से तने हुए लग रहे थे। वह आकर उसके सामने खड़ा हो गया—"शिवदत्त आया था अभी?"

"महाप्रभु!"

"उत्तर दो कांचन!"

"हाँ!"

"प्रयोजन?"

"प्रयोजन...महाप्रभु, मेरे यहाँ आने का प्रयोजन सर्वविदित है—मैं रूपा-जीवा हूँ...कोई भी आने के लिये स्वतंत्र है...मेरा यह व्यवसाय है गुरुदेव..."

"हूँ!" महाप्रभु की मुद्रापर विद्रूप का-सा भाव उभर आया—"अपने व्यवसाय में तुम बहुत पटु हो, इसे कौन नहीं जानता...अम्बपाली के बाद प्रथम बार लावण्यमयी तुमको देखा है...परन्तु वह दुष्टा तो अब..."

"देवी अम्बपाली को आपने देखा है?"

"पर्याप्त...वह कभी मेरे गुरु की शिष्या थी..." कहते-कहते महाप्रभु वहीं

पड़ी एक चाँदी की पीठिका पर बैठ गये—"परन्तु गौतम-श्रमण ने उसे नि
करके रख दिया..."

"आप शास्ता गौतम की चर्चा कर रहे हैं गुरुदेव !"

"हूँ !" महाप्रभु एक उच्छ्वास के साथ गुर्रा उठे—"शास्ता, उस द
को शास्ता कह रही हो तुम...मेरे समक्ष ऐसे शब्द का उच्चारण तुम्हारी जि
से न हो, सावधान रहना..."

कांचन का रोम-रोम कंपित हो उठा।

महाप्रभु की लोलुप-दृष्टि को अपने अर्द्ध-नग्न उरोजों की ओर केन्द्रि
देख कांचन संकुचित हो गयी। सघन-श्मश्रु से आच्छादित मुख-मुद्रा उसे ब
भयंकर प्रतीत हुई। उसकी यह प्रतीति कोई नवीन न थी। कहने को, बौ
भिक्षु और आचरण से पापी, हत्यारे—महाप्रभु के समक्ष खड़ी रहना उ
दुष्कर लगा।

"कांचन !"

"आज्ञा महाप्रभु !"

"तुम्हारे द्वारदेश का प्रहरी इस समय हमारे मठ में पड़ा है। कल रात्रि
वह दुष्ट अनर्गल प्रलाप कर रहा था...तुम्हें संभवतः यह ज्ञात नहीं कि व
मगध-राज का एक निकट संबंधी है...तुम्हारी परिचारिका तिलोत्तमा क
उसकी प्रेयसी रह चुकी है...इन दोनों के रहस्य से अपरिचित
हो तुम ?..."

"रहस्य...कैसा रहस्य..." कांचन के मुख से आश्चर्य फूट पड़ा—"मु
कुछ भी विदित नहीं। क्या आपके कथन का तात्पर्य यह है कि परिचारि
तिलोत्तमा एवं प्रहरी सिंह छद्मवेश में रह रहे हैं..."

"अवश्य..."

"पर..."

"इन दोनों का एक साथ यहाँ रहना शुभ नहीं होता—इसीलिये मैंने इ
एक दूसरे से विच्छेद कर देने का ही निश्चय किया। लगता है, तुम्हारी मेरे इ

निर्णय से सहमति नहीं। अपने विचार स्पष्ट करो कांचन !'' उनका स्वर असाधरण रूप से रुक्ष था।

''नहीं तो !'' कांचन का स्वर काँप रहा था—''मेरे कहने का अर्थ आपने यथार्थ नहीं लगाया। मेरा तात्पर्य था, ये चाहे कहीं के हों—हमारी क्या हानि होती है। एक बार जिसे शरण दिया, उसके अहित की कामना हम लिच्छिवियों के लिये सर्वथा अकल्पनीय है। हमारे देश की यही परम्परा चली आई है। मगध-राज हमसे व्यर्थ ही शत्रुवत्-व्यवहार करते रहे हैं। लिच्छिवियों ने प्रतिरोधस्वरूप संघर्ष अवश्य किया परन्तु उस संघर्ष की पृष्ठ-भूमि आत्मरक्षा की भावना से ओत-प्रोत थी।'' कहकर कांचन चुप हो रही। महाप्रभु के समक्ष एक साथ ही इतना सब कहने का यह प्रथम अवसर था; अस्तु उसका मुख-मंडल पीत हो उठा था। महाप्रभु के नयनों से स्फुलिंग-से झर उठे। उनके चरणों में लोटनेवाली एक गणिका का यह साहस !—दाँतों से श्मश्रु के बाल चबाने लगे वे।

''मेरा अपराध क्षमा करें महाप्रभु !'' कांचन विनम्र स्वर में बोली—''अचेतन में भी संभवतः आपके विरुद्ध सोच पाने की कल्पना नहीं कर पाऊँगी। शास्ता गौतम के विरुद्ध आपके श्री-मुख से अशोभन शब्दों का उच्चारण अप्रत्याशित लगा और...''

''चुप रह !'' महाप्रभु बीच ही में गरज उठे—''बार-बार मेरे समक्ष एक ढोंगी एवं निकृष्ट मनुष्य-कीटकी प्रशंसा में अपनी जिह्वा भ्रष्ट न कर। अपने को तू भूलती जा रही है। ऐसा न हो कि मुझे...''

''शास्ता को आप निकृष्ट-मनुष्य-कीट की संज्ञा दे रहे हैं''?

''हूँ !''

''नहीं !''

''कांचन !''

''नहीं !''

''कांचन, तू इसे क्यों भूलती जा रही है कि तेरे प्राण मेरी इन मुट्ठियों

में है। तुझको एक कीट की तरह जब चाहूँ मसलकर अस्तित्वहीन क
सकता हूँ...'' महाप्रभु की दंत-पंक्तियाँ एक दूसरे पर जम उठीं—''अ
अभी 'सन्निपात-भेरी' का नाद मैं सुनता आ रहा हूँ। संध्या तक जैसे
'संस्थागार' में होनेवाली मंत्रणा की एक-एक गति-विधि स्पष्ट रूप में मुझ
विदित हो जानी चाहिये। तू इस कार्य को बड़ी सरलता से सम्पन्न कर सक
है, इसे मैं भली-भाँति जानता हूँ—अन्यथा मेरे क्रोध का भाजन बनने
निमित्त अपने को तत्पर रखना...''

''महाप्रभु !''

''चल, इधर आ !''

''मेरी मनःस्थित ठीक नहीं, इस समय क्षमा करें...'' दीन स्वर
उसका। वे कामांध हो रहे हैं—यह कांचन से छिपा न रहा। घृणा से उसक
रोम-रोम सिहर उठा—ओह, अपने को भिक्षु की संज्ञा से विभूषित करने वाल
यह महाप्रभु, कितना निकृष्ट-हृदय है। वासना का यह पुतला, अपने को संसार
पूज्य के रूप में पूजित कराने का आकांक्षी है। वह तीन-चार पग पीछे ह
आयी। मन में भयंकर द्वन्द्व घुमड़ रहा था। बहुत दिन हुए, एक ब
शास्ता गौतम, वैशाली में विहार करते समय, उसके द्वार पर आये थे
संवाद पाते ही वह भागी-भागी गयी थी और शास्ता ने अपने हाथ आशीर्वा
की मुद्रा में उठाते हुए कहा था—''कांचन, तुम अपने हृदय में वासना क
प्रश्रय न दो—मोह-माया के जंजाल से अपने को मुक्त कर लो...'' व
विस्मृत-विमुग्ध खड़ी रह गयी थी। शास्ता कब चले गये, इसका उसे भान ह
नहीं हो पाया। वह चिन्तन के अथाह सागर में ऊभ-चुभ करने लगी थी—
शास्ता का वह दिव्य-दर्शन कितना सुखमय, कितना शान्तिमय और कितन
अलौकिक था...

तभी महाप्रभु ने आसन से उठकर उसकी कलाई पकड़ ली और—''कांचन
तुम साक्षात् देवि सेविका प्रतीत होती हो—आगामी मास तुम्हें 'देवि' क
शरण में आना पड़ेगा... तुम्हारा यह मत्सर-जीवन तभी अपनी सार्थकता क

प्राप्त होगा...''कहते हुए उन्होंने कांचन को अपनी ओर खींचना चाहा पर वह छिटककर दूर हो रही।

"कांचन !"

"मैं अस्वस्थ हूँ महाप्रभु..."

"इधर आ !"

"अशुचि है महाप्रभु..."

"मैं तुझे शुचिता प्रदान करूँगा..." और विरोध करने पर भी महाप्रभु ने उसके कंपित-ललितांग को अपनी बलिष्ठ-भुजाओं में आबद्ध कर लिया।

उस समय गगन के ठीक वक्षस्थल पर दीप्यमान सूर्य के घोड़े दक्षिण दिशा की ओर उन्मुख हो उठे थे। भारत —'बुद्धं शरणं गच्छामि...धम्मं शरणं गच्छामि...संघं शरणं गच्छामि...' दिव्य-वाणी के पावन सन्देश से ज्योतिमान हो रहा था...

शास्ता गौतम

गृध्रकूट पर्वत के पार्श्व भाग स्थित एक सुरम्य वाटिका में भगवान् बुद्ध विहार कर रहे थे। साथ में सैकड़ों बौद्ध-श्रमण भी थे। इधर कई मास से भगवान् अपने आप में अस्वस्थता बोध कर रहे थे। उनके तेजस्वी मुखमंडल पर पूर्ववत् विराजती शान्तता को अस्वस्थता की आँच स्पर्श भी नहीं कर पाती थी। भगवान् के प्रिय शिष्य आयुष्यमान् आनन्द आदि उनकी सेवा से क्षण भर के लिये भी विमुख नहीं होते थे।

"आनन्द !"

"आज्ञा भन्ते !" आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पीछे खड़े पंखा झल थे। राजगृह की पर्वत-मालायें दूर तक पसरी हुई थीं। बाल सूर्य की स्नि सुषमा से उत्तुङ्ग-शिखरोंपर अवस्थित वनस्पतियाँ अपूर्व छटा प्रदर्शित कर थीं। वाटिका में इस समय अन्य भिक्षु नहीं थे। भगवान् प्रसन्नमुख आयुष्म आनन्द की ओर निहार रहे थे।

"आनन्द, तेरे मन में आज इतनी विकलता क्यों भर उठी है ?"

"भन्ते..."

"मुझसे कुछ छिपा नहीं आनन्द..."

"भन्ते, मैं कल भिक्षाटन से प्रत्यावर्तित हो रहा था, तभी मगध महामात्य से भेंट हो गयी। उनके वार्तालाप से मुझे कुछ ऐसा भास हुआ कि लिच्छिवियों और मागधों के बीच भयंकर रक्तपात की सृष्टि शीघ्र होने वाल है। महाराज अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा से आप अपरिचित नहीं। प्राय प्रति वर्ष दोनों देशों के बीच संघर्ष की सृष्टि होती है, सहस्रों नर-मुण्डों क उच्छेद हो जाता है...क्या इसका कोई..."

"आनन्द, तेरी चिन्ता यथार्थ है..."

"तब भन्ते !"

"आनन्द, मैं स्वयं इस प्रश्न पर विचार कर चुका हूँ। अजातशत्रु स्वच्छ-हृदय नहीं। बाहर से जैसा वह प्रतीत होता है, अन्तर से नहीं। शान्ति एवं सौहार्द के अनन्य उपासक वज्जियों पर शासन करने का वह दिन-रात स्वप्न देखा करता है—उसकी यह अनर्थकारी महत्वाकांक्षा एक दिन वज्जी-संघ को छिन्न-भिन्न कर देने में सफल सिद्ध हो, यह भी अनहोनी नहीं। ऐसा हुआ तो सच मान, इस देश के दुर्भाग्य......" भगवान् चिन्तामग्न हो उठे थे। उत्ताप से उनका शरीर श्वेद कणों से भर उठा है, यह अनुभव करते ही आनन्द ने पुनः पंखा उठा लिया। भगवान् ने एक लम्बा निश्वास लिया

ओर—"आनन्द, वज्जी-संघ का पतन अवश्यम्भावी ही मत समझ ले। उनकी ऐक्य-शक्ति से टकराकर ये मागध अपनी ही हानि करेंगे..."

"भन्ते, अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा छल का अवलम्ब पाकर क्या वज्जियों के लिये आशंका का कारण नहीं बन सकती है ?..."

"बन सकती है आनन्द...अजातशत्रु के चरित्र का तूने गंभीरता से अध्ययन संभवतः नहीं किया है। वह अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त निकृष्ट से निकृष्ट कार्य सम्पादित कर सकता है...मेरी शिक्षाओं से उसमें परिवर्तन तो हुआ था परन्तु आश्चर्य है, वह पुनः षड्यन्त्र में निर्लिप्त हो गया है। अजातशत्रु ने अपने महामात्य वर्षकार को मेरे पास भेजा है। इस कुचक्री ब्राह्मण महामात्य और स्वयं उसकी अपनी महात्वाकांक्षा—भयंकर होगा आनन्दा—पाप-कर्म करते हुए मनुष्य उसका अनुभव नहीं करता। अन्त में वह दुर्बुद्धि अपने ही कुकर्मों के कारण अग्नि से जले हुए की तरह उत्तापित होता रहता है। ये सभी अपने कर्मों की ज्वाला में भस्मीभूत हो उठेंगे..." भगवान् का मन खिन्न हो उठा है, यह समझते आनन्द को विलम्ब नहीं हुआ। उसने तुरत ही वार्ता को दूसरी ही दिशा की ओर मोड़ दिया।

"भन्ते, हमारे भिक्षु-संघ में इधर जो विग्रह के लक्षण दीख रहे हैं, ये कैसे दूर होंगे ?"

"आनन्द, इस संसार में कुछ भी अपरिवर्तनशील नहीं—वह देख, वर्षकार चला आ रहा है..."

आनन्द ने देखा—सामने मगध का महामात्य वर्षकार, महार्घ-भूषा से सज्जित लपकता हुआ चला आ रहा था। तीव्र-पवन के झोंके से उसका उत्तरीय रह-रहकर लहर उठता था।

उसने भगवान की ओर दृष्टि उठाई। वे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे।

"भन्ते !"

"आनन्द, अपने हाथ के पंखे को रोक ले। इस षड्यंत्री-ब्राह्मण का

आना शुभ होगा, ऐसा मत सोच—'' कहते हुए वे एकबारगी ही अति
गंभीर हो उठे ! वर्षकार के पग और क्षिप्र हो उठे। दूर ही से उसने भग
की दिव्य आकृति का दर्शन किया और वहीं पर दंडवत की मुद्रा में भूमि
गया। भगवान् पूर्ववत् गंभीर रहे।

"आओ ब्राह्मण !'' भगवान् ने आशीर्वाद के भाव से अपना दा
हाथ उठाया।

वर्षकार पुनः भूमिष्ठ हुआ।

"उठो, वर्षकार !''

"भगवान्...मैं...मैं...''

"उठो, समझता हूँ सब, तुम्हें देखते ही समझ गया था
अजातशत्रु के दूत बनकर आये हो...आसन ग्रहण करो...'' भगवान् ने
ही के एक आसन की ओर इंगित करते हुए कहा—"मगध-राज सकुश
तो हैं ?''

"आपकी कृपा से सब मंगल है भगवान् !'' वर्षकार आसन ग्र
करता हुआ बोला—"भगवान की दिव्य-दृष्टि से क्या कुछ गोप्य होगा ?
वज्जियों को उच्छिन्न करने की जो ज्वाला उनके हृदय को भस्मसात् कर
है...उसका शमन भगवान् की अनुकम्पा पर ही निर्भर है...''

"वर्षकार, अपने को और स्पष्ट रूप में उपस्थित करो। आनन्द, क
तूने सुना है, वज्जी सन्निपात-बहुल हैं, उनका ऐक्य-भाव, सौहार्द-स
निस्सन्देह अतुल्य है, वन्दनीय है...''

"सुना है भन्ते !''

"भगवान्, मगध-राज उन्हें उच्छिन्न करने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ हो उठे हैं

"भगवान् कुछ बोले नहीं।''

"आप मार्ग-दर्शन करें भगवान !''

"आनन्द, जब तक वज्जी ऐक्य और सौहार्द का दीप जलाते रहेंगे,
तक उनका उत्कर्ष ही होगा। कोई भी शक्ति उनका अपकर्ष नहीं कर सकती

उनकी इस सन्निपात बहुलता से टकराकर शत्रु अपनी ही हानि करेगा...'' भगवान् इस भाव से कह रहे थे, जैसे वर्षकार वहाँ हो ही न—''आनन्द, वज्जी सन्निपात-भेरी के शब्द को सुनते ही अर्ध-भूषित, अर्ध-खाये—सब कुछ छोड़कर संस्थागार की ओर दौड़ पड़ते हैं। एकमत हो वे मंत्रणा करते हैं और उस मंत्रणा से जो कर्त्तव्य निश्चित होता है, उसका कोई विरोधी नहीं होता। उनका एक ही कर्त्तव्य होता है और एक ही धर्म। वे 'अप्रज्ञप्त'को 'प्रज्ञप्त' नहीं होने देते, 'प्रज्ञप्त' का उच्छेद करने की कल्पना तक नहीं की जाती...वे प्राचीन 'वज्जी-धर्म' को ध्रुव-सत्य मान कर अपना प्रत्येक कार्य सम्पादित करते हैं... तूने सुना तो होगा आनन्द !''

वर्षकार घबरा-सा उठा।

भगवान् आनन्द के माध्यम से उसी का उत्तर दे रहे हैं—यह उससे छिपा न रहा।

''भगवान् !''

''कहो वर्षकार !''

वर्षकार करबद्ध हो बोला— ''मैं मगध-राज का दूत बनकर आया हूँ !''

''तो ?''

''आज्ञा हो भगवान् !''

''वज्जियों को उच्छिन्न कर पाना अजातशत्रु की अन्यायी-शक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं वर्षकार !'' भगवान् पुनः आनन्द की ओर उन्मुख हुए— ''आनन्द, तूने सुना है न, वज्जियों के जो महल्लक हैं, उनका वे आदर करते हैं। उनका वचन ही कर्त्तव्य समझा जाता है...हर कोई उनकी पूजा करता है...''

''मैंने सुना है भन्ते !''

''आनन्द, वे कुल-कुमारिकाओं, कुल-वधुओं का अपहरण नहीं करते। उनकी ओर कुदृष्टि नहीं डालते !—''

''सुना है भन्ते !''

''और वे नगर के आस-पास बने चैत्यों को नष्ट नहीं करते !—उनको पवित्रभाव से पूजा करते हैं...उनकी रक्षा के निमित्त वज्जी-संघ का बच्चा-बच्चा

तत्पर रहता है। वे अर्हतों का कभी असम्मान नहीं करते—सुना है त
आनन्द !—भविष्य में अर्हत वज्जी-संघ में आते रहें, इसकी व्यवस्था में वे
मन-धन से प्रस्तुत रहते हैं। उनके राज्य में श्रमण, अर्हत—सुख से
करें—यह हर वज्जी की आन्तरिक अभिलाषा रहती है...''

वर्षकार उकता गया था—''भगवान् !''

''वर्षकार ! सुनो, एक बार मैं वैशाली में सारन्दद चैत्य में बिहार क
था। वहीं मैंने उन्हें सात अपरिहाणीय धर्म का उपदेश दिया...जबत
इन सातों धर्मों पर अवलम्बित रहेंगे, तबतक अजातशत्रु की महत्त्वाकांक्षा
पूर्ण नहीं होगी, इतना विश्वास रखो...''

वर्षकार असंतुष्ट-सा हो उठकर खड़ा हो गया—''तब तो कोई बात ही न
मगधराज को उन्हें उच्छिन्न करने के निमित्त सैन्यबल का उपयोग करना ही
चाहिये। उन्हें पददलित करने का एकमात्र अवलम्ब छल है—छल से उ
ऐक्य-भावना को छिन्न-भिन्न करके...'' कह कर वह मुस्कराया। बड़ी वि
थी उसकी वह मुस्कान।

''ब्राह्मण, तुमसे यही आशा भी की जा सकती है !''

''भगवान् गौतम...अब मैं चलूँगा...'' और वह आसन से खड़
गया—'' आपकी सम्मति पाकर मगध-राज धन्य हो उठेंगे...'' उसने बार
भगवान् को प्रणाम किया। जब वह आँखों से ओझल हो गया तो भगवा
एक दीर्घ निश्वास लिया और आयुष्मान् आनन्द को आमंत्रित करते
बोले—''आनन्द, इस षड़यंत्री ने उपस्थित होकर मेरे मन में अशान्ति
सृष्टि कर दी है...जाओ, जितने भी भिक्षु राजगृह के निकट विहर रहे
उन्हें उपस्थानशाला में एकत्र करो...''

''अच्छा, भन्ते !'' कह, आनन्द ने चीवर कंधे पर डाल लिया।

दूर पर कोई भिक्षु सुमधुर स्वर में गुनगुनाता हुआ चला जा रहा था-

मैत्री विहारी यो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम्....

लावण्यज्वाल

रात्रि की सघनता वैशाली के दीप्यमान आनन पर छा गयी थी। अमा की गोद में दुबका-सा पड़ा नीलाम्बर, नक्षत्रलोक की टिमटिमाहट की जैसे उपेक्षा कर रहा था। मुद्राओं की खनक और क्रेताओं के रव से गुंजित हाट निस्तब्ध हो रहे थे। राजमार्ग पर सतर्क-प्रहरियों की आवा-जाही अब भी बनी थी किन्तु साधारण मार्ग पर श्वान विचरण कर रहे थे।

श्रेष्ठि विनयदत्त की विशाल अट्टालिका के बाम-पार्श्व की वीथिका से दो तरुण निकलकर झपटते हुए कांचन की अट्टालिका की ओर बढ़े।

"बन्धु पूर्णजित् !" एक ने चलते-चलते कहा—"तुम्हारा वैशाली पधारने का एकमात्र अभिप्राय क्या कांचन की लावण्य-सुषमा ही है ?"

"नहीं, आने के अभिप्राय में प्रामुख्य व्यापार का ही है परन्तु कांचन की रूप-श्री का मोह भी कुछ कम नहीं। यों तो हमारी वाराणसी लावण्यमयियों से सर्वथा रिक्त नहीं परन्तु कांचन की समता..."

"सावधान !" पार्श्व से किसी ने गरज कर कहा और तत्क्षण दो अश्वारोही किसी कोने से निकलकर सामने आ गये। दोनों के हाथों में नग्न कृपाण उस अन्धकार में भी रह-रहकर दिप उठते थे।

पूर्णजित् भय से चार-पाँच पग पीछे हट आया। वणिक्-हृदय में सहसा ही दस्यु का ध्यान हो आया।

दूसरा युवक तनिक भी विचलित हुए बिना अश्वारोहियों के समक्ष खड़ा रहा। उसका हाथ उत्तरीय के अन्दर गया और दूसरे ही क्षण हरे रंग की

विद्युत चमक गयी। दोनों अश्वारोही पीछे हटे। तने हुए कृ
झुक गये।

"श्रेष्ठिपुत्र आप ?"

"हूँ !" उसने अपने हाथ की वह वस्तु पुनः उत्तरीय के अन्दर कर ली
"ये हमारे मित्र...वाराणसी के एक प्रख्यात कुलोत्पन्न...हमें एक आवश
कार्य से..." अश्वारोहियों ने सम्मान के साथ एक ओर हटकर रास्ता दिया
"और अधिक परिचय की तो आवश्यकता नहीं तुम्हें ?"

"नहीं !" एक ने कहकर अपने दूसरे साथी की ओर देखा। दू
किंचित आगे बढ़कर बोला—"श्रेष्ठि-पुत्र, आपका इस प्रकार घूमना आशंक
मेरा तात्पर्य है, वैशाली की वर्तमान स्थिति आप से गोपन नहीं। मुझे विश
है, आपने अपनी रक्षा की पर्याप्त व्यवस्था कर रखी होगी..."

"निश्चिन्त कहो !" कहते हुए उसने कटि से लटक रहे कृपाण की
एक गर्वमयी दृष्टि डाली और मुस्करा उठा। अश्वारोहियों ने प्रणाम किया
जिधर से आये थे, उधर ही जाकर लुप्त हो गये।

"बन्धु पूर्णजित् !" कहता हुआ वह घूमा तो उसे लम्बी-लम्बी
भरते हुए पाया—"अरे, तुम..."

"वे कौन थे ?"

"प्रहरी !"

"ओह, मैंने तो समझा दस्यु..."

वह ठहाका लगा उठा—"इतने भीत न होओ..." उसने हाथ बढ़
पूर्णजित् की कलाई पकड़ ली, बलिष्ठ हथेलियों के बीच उसकी कलाई
सी गयी !

"आह !"

"क्या हुआ, आओ न !"

"बन्धु अजय, तुम दैत्य की तरह बलवान हो !"

"नहीं तो !"

"कैसे नहीं, मेरी कलाई की अस्थियाँ चूर हो गयीं...तुम वणिक् होकर भी असाधारण बलशाली हो..." वह अपनी मुक्त हो गयी कलाई सहलाता हुआ बोला—"अब कितना मार्ग रह गया है ?"

अजय चकित था। क्या पुरुष की कलाई इतनी सुकोमल हो सकती है ! उसने कल्पना भी नहीं की थी। विख्यात वाराणसी के पुरुष क्या ऐसे ही होते हैं !—वह चिन्तन में डूब गया था। पूर्णजित् की बात सम्भवतः उसने सुनी ही नहीं। उसकी वह विचारमग्नता पूर्णजित् को भायी नहीं। उसने धीरे से अजय के कन्धे पर हाथ रख दिया—"बन्धु अजय, क्या सोच रहे हो ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं !" अजय चौंका।

"अजय बन्धु, मुझे संवाद मिला था, आजकल वैशाली वामाचारियों का केन्द्र बन रहा है..."

"वामाचारी !"

"हाँ, अपने को बौद्ध कहने वाले कुछ पाखंडी-हत्यारों का संघ !—इनकी साधना-विधि जितनी लोमहर्षक एवं निकृष्ट होती है, वैसे ही वे स्वयं भी..." पूर्णजित् का मधुरस्वर उस प्रशान्त वातावरण में कम्पन भर रहा था। अजय गंभीर बना रहा, पूर्णजित् भी मौन हो रहा। दोनों एक चतुष्पथ पर आकर खड़े हो गये। तीन-चार दंडदीपिकायें आस-पास को प्रकाशित कर रही थी।

"कांचन का मार्ग तो पीछे छूट गया बन्धु !" अजय बोला—"हम वार्तालिप्त आगे चले आये। पीछे लौटना पड़ेगा अब !"

"पर मैं श्रान्त हो गया हूँ अजय बन्धु !"

"तब !" अजय कुछ सोचने लगा।

उसी समय दूर से कुछ अश्वारोहियों के आने की आहट मिली। दोनों एक बगल हटकर खड़े हो गये। दौड़ते हुए पचीस-तीस अश्व दीख पड़े। उन पर सशस्त्र राजपुरुष आसीन थे। उनकी परिश्रान्त मुद्रा से भास होता था, बहुत दूर से किसी का पीछा करते हुए आये हैं।

"अजय !..."

"शान्त रहो !..."

राजपुरुषों ने परस्पर कुछ मन्त्रणा की और तब उनके चार दल हो ग
चारो दल विभिन्न वीथिकाओं की ओर तीव्र वेग से चल पड़े।

"लग रहा है, पुनः कोई दुर्घटना घटी है..." अजय ने जैसे अ
आपसे कहा।

"दुर्घटना...कैसी दुर्घटना !" पूर्णजित् ने आश्चर्य का भाव दर्शाया
"यह दुर्घटना क्या नागरिकों के अपहरण वाली तो नहीं। यहाँ आते ही
ऐसा संवाद मुझे मिला था !"

"लग तो ऐसा ही रहा है !" कहता हुआ अजय झपटकर पूर्णजित्
घसीटता हुआ एक ओर बढ़ा। चलते-चलते ही उसने कृपाण निकाल
हाथ में ले लिया था। सामने से तीन मनुष्याकृतियाँ लपकती हुई बढ़ी
रही थीं। मार्ग अन्धकाराच्छन्न था।

"ये कौन हैं ?"

"चुप !"

अपने को उन आकृतियों से थोड़ा अन्तर रखकर अजय बराबर पीछे था
दोनों बहुत दूर तक ऐसे ही चले आये। अब अँधेरा और गहन हो गया था
इतनी देर तक अँधेरे में चलते रहने के कारण पूर्णजित् घबरा उठा था। गन्त
का कहीं ठिकाना नहीं। अजय ने अनुभव किया, पैरों के नीचे की भू
गीली है।

"पूर्ण !"

"क्या हम किसी सुरंग में हैं अजय !" पूर्णजित् का स्वर कम्पित था
अजय ने उसके ओठों पर हाथ रख दिया। दूसरे ही क्षण कोई एकदम प
से तीर की तरह निकल गया। अजय ने पूर्णजित् को वहीं छोड़ा और कृपा
ताने उसी ओर लपका। वे तीनों आकृतियाँ अब लुप्त हो गयी थीं। पूर्णजि
अकेला, हाथों से इधर-उधर टटोलता हुआ खड़ा रह गया। मुख से स्वर
ही नहीं पा रहे थे।

"अजय !" बड़ी कठिनाई से उसके मुख से निकल पाया; परन्तु जब उत्तर में स्वर की प्रतिध्वनि ही आई तो उसका मस्तिष्क उद्भ्रांत-सा हो उठा। उसे अपने हृदय पर कोई अदृश्य-बोझ का अनुभव हुआ। बोझ की गुरुता बढ़ती गयी...

कुछ ही दूर आगे बढ़कर अजय ने उस भागती हुई छाया को पा लिया—"खड़े रहो, नहीं तो शरीर के दो खंड हो जायेंगे!" कड़क उठा वह। दोनों के बीच का अन्तर बहुत कम था। भागती छाया ठिठकी और तब विद्युत वेग से घूम पड़ी। अजय सन्नद्ध था।

"कौन हो तुम !" अजय के मुख से निकला परन्तु तब तक उसके हाथ के खड्ग ने अजय पर भयंकर रूप से प्रहार कर दिया। अजय ने प्रहार अपने कृपाण पर झेला—"खड्ग फेंक दो, नहीं तो..."

"कौन, अजय...श्रेष्ठि-पुत्र..." उसके हाथ का खड्ग छूट पड़ा।

अजय ने उत्तरीय से वही विचित्र मणि पुनः निकाल ली। चारो ओर एक धीमा पर मोहक प्रकाश फैल गया। प्रकाश होते ही अजय के मुख से फूट पड़ा—"अरे, तुम हो सिंहा !—यहाँ कैसे ?"

वह सिंहा ही था। अस्त-व्यस्त मुद्रा, शरीर का वर्ण पाण्डु रोग के सदृश हो रहा था—मुख पर कई स्थान पर विकृति उत्पन्न करते वीभत्स घाव स्पष्ट दीख रहे थे, आँखें निस्तेज-सी हो रही थीं।

सिंहा को उस अवस्था में और इतने रहस्यमय ढंग से पाकर अजय आश्चर्य-विमूढ़ हो गया।

"अजय...तुम...आयुष्मान् अजयसेन आप !—इस महाश्मशान-भूमि में, आश्चर्य है...

"अपने को संयत करो...इस स्थान के विषय में मैं रंचमात्र भी नहीं जानता..."

"ओह !" सिंहा के पैर लड़खड़ाये, स्वर लड़खड़ाये। अजय ने झपट कर उसे सहारा दिया। वह श्लथ-भाव से वहीं बैठ गया—"आयुष्मान् अजय...

मुझे जैसे हो, यहाँ से ले चलें...आपको यहाँ देखकर मैं नाना प्रका
आशंकाओं में..."

"स्पष्ट कहो सिंहा !"

"यह स्थान कापालिकों के अधिकार में है आयुष्मान् !—आपको अ
संवाद नहीं मिला..."

"कापालिक..."

अजय ने उसे अपने कंधे से टिकाकर आगे ले चलने का उपक्रम किय
यह देखकर उसके आश्चर्य की सीमा न रही कि सिंहा की गर्दन पर किसी ती
अस्त्र से गहरा घाव हो गया है। उसका सारा शरीर लहू से भीग उठा
रात्रि की कालिमा बाल-सूर्य के आगमन से छँटने-सी लगी थी। आकस्मिक
में वहाँ सिंहा को पाकर अजय को पूर्णजित् की सुध बिसर-सी गयी थी।
तरह जब अजय ने एक प्रशस्त स्थान पर अपने को पाया तो
अचेतप्राय हो रहा था। रात्रि की कालिमा पर लालिमा की परत-सी
लगी थी। अपने को संस्थागार के पास पड़नेवाली एक अपेक्षाकृत उपे
वीथी पर पाकर अजय की आँखें फट-सी पड़ीं। सिंहा को उसने सावधान
एक शिला-खंड पर लिटा दिया। प्रातःकालीन-पवन ने शीघ्र ही सिंहा
चैतन्य-लाभ कराया। उसने आँखें खोलकर देखा तो अजय आश्चर्यवि
रित नेत्रों से, सामने पड़ने वाली एक सुरंगनुमा गुप्त-वीथी की ओर नि
रहा था।

"आयुष्मान् !"

अजय पास आया—"सिंहा, मैं अपने एक साथी को उधर ही
आया हूँ..."

सुनकर सिंहा के मुँह से एक दीर्घ उच्छ्वास निकल गया—"सा
आपके साथ कोई और भी था क्या ?"

"हाँ !"

"ओह !"

पूर्णजित् का स्मरण आते ही वह उद्विग्न हो उठा था। सिंहा के बिना बताये ही उसने सारी स्थिति का अनुमान लगा लिया था—कापालिकों के रहस्यमय एवं रोमांचकारी कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में उसने बहुत सुन रखा था। अब उसकी कल्पनामात्र से उसका हृदय धड़क उठा। सिंहा अर्द्धमृत-सा पड़ा था।

"सिंहा!"

"आयुष्मान्!"

"मैं अभी आ रहा हूँ, तब तक तुम यहीं रहो..."

"नहीं आयुष्मान्, आप अकेले उस नरक-कुण्ड में न जायें...मेरे निकल भागने से वे दैत्य सतर्क हो गये होंगे...मनुष्य के प्राणों का मूल्य वहाँ मंत्र की एक कड़ी में आँका जाता है...स्वामिनी कांचन को भी उन नरपिशाचों ने अपने अधिकार में कर लिया है..."

"कांचन...क्या कांचन भी यहीं है?"

"हाँ, श्रीमन्—कल रात्रि में महाप्रभु उन्हें ले आया है..." अजय का सारा शरीर एकबारगी आवेग-कम्पित हो उठा। भुजायें फड़क उठीं। मुट्ठी कृपाण की मूँठ पर जम-सी गयी। सिंहा बुरी तरह हाँफ रहा था। उसकी भयभीत दृष्टि रह-रहकर उस ओर उठ जाती थी।

"सिंहा, मैं जाऊँगा..."

"नहीं श्रीमन्..." सिंहा बड़ी कठिनाई से कह पाया—"आप अकेले वहाँ कुछ कर पाने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होंगे...जैसे भी हो, अपने को इस दैत्य-सीमा से बाहर करें..." उसी समय किसी की भारी पग-ध्वनि सुनकर अजय ने दृष्टि उठाई तो हाथ में विकराल त्रिशूल लिये महाप्रभु को खड़ा पाया। श्मश्रु-आच्छादित मुख-मुद्रा क्रोध से तप रही थी। आँखों से हिंस्रता छिटकी पड़ रही थी। सिंहा के मुख से एक चीत्कार निकल गयी—"आयुष्मान्... अपने को इस दैत्य से बचायें..."

"भिक्षु वसन्तक..." अजय के मुख से अस्फुट स्वर निकला—"तुमको

इस वेश में देखकर मुझे आश्चर्य होता है...'' उसकी उँगलियाँ अब भी कृ
की मूठ पर जमी थीं।

"आश्चर्य...हा-हा-हा !...''महाप्रभु के मुख से अट्टहास निकल
"आश्चर्य होता है तुम्हें श्रेष्ठि-पुत्र !..."

अजय ने कृपाण सूत ली—"सावधान भिक्षु, तुम्हारा शास्ता गौत
अनुचर वाला आवरण हट चुका है, इसे भूलो नहीं। शान्ति और मानवता
आड़ में तुम्हारा संघ, दानवता का ताण्डव कर रहा है, इसका भंडाफोड़
चुका है...अपने स्थान पर अडिग रहो। मेरा कृपाण नग्न होकर दृष्टिहीन
जाता है..."

"चुप रह प्रमादी बालक !—शास्ता का अनुचर कहता है मुझे...
अपार शक्ति का तुझे अनुमान भी न होगा..."

अजय ने झपटकर कृपाण का प्रहार किया परन्तु यह देखकर उसके आ
की सीमा न रही कि उसके हाथ से छूटकर कृपाण हवा में लटक रहा है।

"मायावी !"

"हा-हा-हा !..." महाप्रभु ने अपने पीछे खड़े दैत्य सरीखे नंग-ध
भिक्षुओं को संकेत किया और देखते ही देखते उन भिक्षुओं से अजय ने अ
आपको घिरा हुआ पाया।

"चलो !" महाप्रभु के मुख से गुर्राहट निकली—"मुक्त-पवन का
अन्तिम स्पर्श है तुम्हारे लिये श्रेष्ठि-पुत्र !..." उस स्वर में जाने क्या चमत्
था कि अजय मंत्रमुग्ध-सा डगमग-पग महाप्रभु के पीछे-पीछे चल पड़ा।
भिक्षुओं ने अचेत-से पड़े सिंहा की दोनों हाथ पकड़ लिया और घसीटते
ले चले। सन्नाटा पुनः छा गया। बाल-सूर्य तारुण्य की ड्योढ़ी पर था।

बहुत देर तक चलते रहने के उपरान्त अजय के पग जब गीली भूमि
पथरीले पथ पर पड़े तो वह चमक-सा गया। वह अपने को एक बौद्ध-वि
के प्रांगण में पा रहा था। वातावरण में अपार शान्ति विराज रही थ
महाप्रभु ने घूमकर उसकी ओर देखा—"देख, इस स्थान को पहचानता
होगा ही तू ?..."

अजय मौन रहा। अन्तःसंघर्ष ने उसकी इच्छा-शक्ति को अपने आप में समेट लिया था। महाप्रभु के अट्टहास ने उसके कर्ण-प्रदेश में तप्त-लौह शलाकाओं के सदृश पुनः प्रवेश किया तो अनायास ही उसका सर्वांग सिहरन से भर उठा। आस-पास अनेक नग्न-अर्द्ध-नग्न भिक्षुणियाँ फिर रही थीं।

"सुनन्द !..." महाप्रभु की पुकार पर एक नग्न-भीमकाय भिक्षु सामने आया—"गुरुदेव साधना-कक्ष में हैं ?..."

"हाँ, महाप्रभु !..."

"मेरे पहुँचने का संवाद उन्हें अविलम्ब दो !..."

"वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं..."

एकाएक महाप्रभु अजय की ओर घूम पड़े—"इन दोनों को बलि-कक्ष में पहुँचाया जाय। और उसे...साधना-कक्ष में ले लो...मैं चल रहा हूँ..." और वे अन्तर्भाग की ओर तीव्र वेग से बढ़ गये। उनके हटते ही अजय की निष्क्रियता में जैसे नव-चेतन लहरा उठा। उछलकर उसने अपने पास खड़े भिक्षु के हाथों से त्रिशूल छीन लिया और जब तक वे सम्हलें-सम्हलें तब तक सामने पड़नेवाले दो विकराल भिक्षु 'हाय-हाय' करते भूमि पर लोट गये। अजय के हाथ में त्रिशूल साक्षात् काल बनकर घूम रहा था। दो और गिरे... भूमि रक्तरंजित हो उठी। भिक्षुणियाँ हाहाकार करती हुई अन्तःप्रकोष्ठ की ओर भाग खड़ी हुईं... मैदान साफ देख अजय बिना रुके आँधी की तरह भाग खड़ा हुआ: क्योंकि उसे भली-भाँति विदित था कि महाप्रभु के समक्ष वह पुनः निष्क्रिय हो जायगा।

"अजय..." भागता हुआ सहसा वह ठमक गया। रस्सियों से जकड़े हुए पूर्णजित् को उसने अपने पार्श्व भाग में पड़ा पाया। उसे साक्षात् रौद्र रूप में रक्त-रंजित त्रिशूल लिये देखकर पूर्णजित् का कण्ठ रुद्ध-सा हो उठा।

"बन्धु पूर्ण ..." उसे बन्धनमुक्त करता हुआ वह उन्मादी के-से स्वर में बोला—"स्थति अत्यन्त विकट है...हमें अविलम्ब इस स्थान को छोड़ देना है..." जैसे-तैसे बन्धन-मुक्तकर खींचता हुआ अजय पुनः आँधी

बन गया। महाप्रभु की ऐंद्रजालिक-दृष्टि के समक्ष पड़ना कितना भयंकर
इसे वह भूला नहीं था।

"अजय!..."

"बस, बिना बोले चले आओ पूर्ण..."

"अजय, मेरे पग क्षत् हो गये हैं..."

"होने दो!..." उसने अपनी चाल और तीव्र कर ली थी। भाग
धुन में उसे मार्ग की सुध ही न रही। एक दूसरे मार्ग से वह अपेक्षाकृत
राजमार्ग के सन्निकट पहुँच गया।

सहसा पूर्णजित् ठोकर खाकर गिर पड़ा। झटका खाकर वह भी
को हुआ पर सम्हल गया। घूमकर देखा तो जैसे चक्कर खा उठा। भूमि
गिरा हुआ पूर्णजित्—पुरुष नहीं, एक लावण्यमयी तरुणी के रूप
सघन-कुन्तल-राशि, जो अब तक वेष्ठन में छिपी थी, भूमि पर बिखरी
उन्नत उरोजों पर सावधानतापूर्वक पड़ा हुआ आवरण हट गया था औ
अजय को लगा कि जैसे वह स्वप्न देख रहा हो...आँखें मलीं और हा
रक्तरंजित त्रिशूल को एक ओर फेंक दिया परन्तु जो कुछ उसने देखा
यथार्थ था, एकदम स्पष्ट...वह वहीं धप्प से बैठ गया।

"हे ईश्वर, यह कैसी विडम्बना है!..." उसने अस्फुट स्वर में व
सामने राजमार्ग की झलक दीख रही थी। वह स्थान यद्यपि अब भी
शून्य था तथापि राजमार्ग पर आवागमन का ध्वनि-संकेत मिल रहा
पूर्ण को ध्यान से उसने एक बार, दो बार, अनेक बार देखा परन्तु जो कु
यथार्थ था, उसमें कोई अन्तर नहीं आ पाता था।

"पूर्ण!..."

परन्तु वह इस समय एकदम चेतनाहीन 'हो चुका था'। सुकोमल
चरण लहू-लुहान हो रहे थे। दोनों हाथों से मस्तक पकड़कर अजय
बैठ गया। उसके मन-मस्तिष्क में द्वन्द्व की घटायें घुमड़ रही थीं...

अपने आपको 'पूर्ण' के लावण्यज्वाल में भस्म होता हुआ अनुभव कर रहा था। ओह, कितनी आह्लादमयी, कितनी आश्चर्यमयी थी वह तपन...लावण्य-ज्वाल की लपटों में उसने अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को समाहित होता हुआ-सा पाया...

संस्थागार

संस्थागार की ओर जानेवाली सुविशाल रथ्या में वैशाली के राजकों के ठट्ठ के ठट्ठ रथ खड़े थे। मूल्यवान वस्त्राभूषणों से सज्जित राजकों का समूह संस्थागार के द्वार पर उपस्थित होता और वहाँ प्रस्तुत उच्च-पदस्थ राजपुरुष उन्हें ससम्मान अन्दर ले जाते। पथ पर नागरिकों का समूह भी बिखरा हुआ था। आज संस्थागार में वैशाली की तत्कालीन विषम परिस्थिति पर गंभीर विचार-विनिमय होने वाला था। अपने को 'बौद्ध-भिक्षु' कहने वाले वाम-पंथियों के आतंक से लिच्छवियों में भयंकर आतंक की सृष्टि हो गयी थी। उनके द्वारा अपहृत अनेक संभ्रान्त कुलपुत्र एवं कुलललनाओं का अब तक कोई पता नहीं लग पाया था। वज्जी-संघ के गुप्तचर सतर्क-दृष्टि रखते हुए भी रहस्य-भेदन में असमर्थ सिद्ध हुए थे। मगध-राज अजातशत्रु तथा उसके अन्य सह-योगियों की कुदृष्टि का सबल प्रतिरोध करने की योजना पर भी राजकों के समक्ष समस्या रखी जाने वाली थी। वैशाली के सम्माननीय नागरिक, श्रेष्ठि-पुत्र अजय सेन, वाम-मार्गियों को उच्छिन्न करने की अपनी योजना भी प्रस्तुत करनेवाले थे—नागरिकों में इसके लिये विशेष समुत्तेजना व्याप्त थी।

संस्थागार से रह-रहकर 'सन्निपात-भेरी' का निनाद हो रहा था। जै
नाद-स्वर तीव्र हो रहा था, वैसे-वैसे नागरिकों में उत्सुकता और पधारने
राजकों में शीघ्रता बढ़ रही थी।

"सुनन्द !"

"चुप भी रह रे मूर्ख..."

"अभी आयुष्मान् अजय का रथ नहीं आया ?..."

"नहीं !..."

हर आगन्तुक राजक के रथ की ओर नागरिक-गण अजय की आ
निहारने लगते थे।

राजकों का आगमन समाप्तप्रायः था। अजय अब तक नहीं आया
नागरिकों के बीच सनसनी-सी व्याप्त हो गयी। सब एक दूसरे से इस सम्ब
आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। कई एक तो औत्सुक्यावेग रो
पाने के कारण अजय के भवन की ओर दौड़ गये। वस्तुस्थिति क्या है ?—
जानने के लिये सभी व्यग्र थे।

सहसा संस्थागार का द्वार बन्द कर दिया गया। अजय नहीं ही आ
समय हो गया था। संस्थागार का कार्यक्रम आरंभ हो गया था। द्वारप
बन्द होना—इसका स्पष्ट संकेत दे रहा था। नागरिकों के बीच व्याप्त सनस
उग्र रूप धारण कर लिया।

"आयुष्मान् अजय का आना अत्यावश्यक था..."

"कहीं अस्वस्थ तो नहीं हो गये..."

"संभवतः 'सन्निपात-भेरी' की सूचना उन तक नहीं पहुँच पायी !...

"ऐसा कैसे हो सकता है !..."

उसी समय अजय के भवन की ओर गये नागरिक वापस लौट आये।
उनकी ओर झपट पड़े।

"क्या हुआ ?"

उन्होंने संवाद दिया—"आयुष्मान् अजय, अपने रथपर बहुत पहले संस्थागार की ओर चल पड़े हैं..."

नागरिकों के समूहपर जैसे किसी ने पर्वत पटक दिया हो !!

● ●

"तुम अपना वास्तविक परिचय अगर कोई हानि न हो, मुझे बताओ शुभे !..." अजय ने अपनी निजी कक्षा में पुरुषरूपी उस तरुणी को सुसज्जित पर्यंक पर लिटा दिया था। उसकी मूर्च्छा अभी-अभी टूटी थी। उसके ऊपर झुके अजय ने अत्यन्त मृदु स्वर में उसके परिचय की जिज्ञासा प्रकट की। उसे अपनी कक्षा तक पहुँचाने में उसने पर्याप्त सावधानी से काम लिया था। भवन के पारिवारिक व्यक्तियों को इसका भास तक नहीं हो पाया था।

"आर्य, मैं वाराणसी की एक नर्तकी हूँ...छद्म-वेश में आने का एकमात्र तात्पर्य कांचन की रूप-ख्याति थी। न जाने क्यों उतनी दूर रहकर भी मुझे उससे ईर्ष्या हो गयी थी..." कहते-कहते वह संकुचित हो उठी—"आपसे छल करके मैं संतापित हूँ आर्य...आपके हृदय की विशालता विगत कुछ घड़ियों में मुझे मिल चुकी है। इसलिये विश्वास है, आप क्षमा अवश्य कर देंगे..."

"शुभे, मेरे मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी..."

"आर्य, मैं धन्य हो गयी !" वह बीच ही में बोल उठी। स्वर से आन्तरिकतोष छलका पड़ रहा था।

"तुम्हारा शुभ नाम !"

"मुझे पूर्णा कहते हैं आर्य !" उसका स्वर लजालु था।

"पूर्णा..."

"आज्ञा हो आर्य !"

"तुम्हारा रूप अपूर्व है और तुम-सी रूप-गर्विता का सम्मान कोई प्राप्त भी कर सकता है !" कहकर उसने अपने विशाल नेत्रों में अनुराग की ज्योति भर पूर्णा की ओर देखा—"इस आपत्काल में तुम्हारे सम्मान में कुछ बन नहीं पा रहा है। वाम-मार्गियों का उत्पात तुम देख ही चुकी हो। रड़ोर्म

राज भी हमारी सुख-समृद्धि से ईर्ष्यालु होकर हमें विनष्ट करने पर
गये हैं। अपने स्वदेश को आपत्ति में पा कर किस देशाभिमानी को चि
न होगी...''

''यथार्थ है आर्य...''

''कल हमारे संस्थागार में एक आवश्यकीय बैठक होनेवाली है। व
संघ के सभी राजक उपस्थित होंगे। देखना है, क्या निर्णय होता है..
कहता हुआ अजय जैसे अपने आप में ही डूब गया। उसकी चिन्तामग्न
से पूर्णा को हार्दिक सहानुभूति थी—सहानुभूति थी इसलिये पीड़ा भ
अजय कक्ष्या की छत की ओर दृष्टि गड़ाये चिन्तामग्न हो गया था। कई च
तक मौन छाया रहा। अन्त में पूर्णा ने मौन-भंग करते हुए कह
''आर्य, कांचन का कुछ पता है ?''

''हाँ !'' अजय चौंकता हुआ-सा बोला—''वह भी उन अघोर-पं
के चंगुल में आ गयी है, उसके प्रहरी सिंहा की दुर्दशा तुमने देख ही ली है

''बहुत आश्चर्य है कि आपको उनके स्थान का पता लग चुका है, फिर
इतने चिन्तित हो रहे हैं। वज्जी-सत्ता में क्या इतनी भी शक्ति नहीं कि
मुट्ठी भर दानवों को उच्छिन्न कर सके।''

''सो बात नहीं है पूर्णा !'' अजय ने एक लम्बी साँस लेते हुए कहा
''जिस स्थान पर उनका संघ है वह यहाँ का एक अत्यन्त प्रसिद्ध संघा
है। शास्ता गौतम ने स्वयं अपने कर-कमलों द्वारा उसकी नींव रखी थी। उ
अन्तराल में इतनी घृणित और भयंकर नाटिका का अभिनय चल रहा है,
जानते-समझते हुए भी मैं अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाता हूँ। बाधा स्व
जो वस्तु आ पड़ती है, वह है लिच्छवियों की परम्परा !—लिच्छवियं
चाहे वह सत्ता हो या साधारण मनुष्य—देवस्थानों को, उनके लिये व
बलि (वृत्ति) एवं श्रद्धा को किसी भी मूल्यपर अहित पहुँचाने की कल्पना
करता। यह प्राचीन लिच्छवि-धर्म है। 'धर्म' के प्रति दुर्भावना—अ
कल्पना भी नहीं की जा सकती पूर्णा !...यही एक ऐसी बाधा है, जि

उलझकर मैं विमूढ़ हो गया हूँ। धर्म-हन्ता बनता हूँ तो पूर्वजों द्वारा अर्जित पुण्य नष्ट होता है और...''

''और धर्म-द्रोह से बढ़कर देश-द्रोह, मानवता-द्रोह का पाप सम्भवतः आपके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता ?...'' अजय ने चौंककर उसकी ओर देखा—क्या आज लिच्छिवियों को सचमुच एक तरुणी से शिक्षा-ग्रहण करनी पड़ेगी। अपनी कर्त्तव्यशीलता एवं सौहर्द-भाव के लिये विख्यात लिच्छिवि क्या इतने पथ-विमुख हो गये हैं कि एक युवती, एक गणिका उन्हें कर्त्तव्य-के निमित्त उत्प्रेरित करेगी ?—नहीं, नहीं। उसके सम्मुख पहले देश है, मानवता है, इसके बाद और कुछ !! पूर्णा के व्यंग से तिलमिला-सा उठा वह। पूर्णा ने इसे लक्ष्य किया।

''आर्य !''

''मैं अब सुस्थिर हूँ पूर्णा !'' अजय सम्हलता हुआ बोला—''कर्त्तव्य-विमुख हो रहा था। तुमने ठेस लगाकर चैतन्य-लाभ कराया। बौद्ध-धर्म की आड़ में अपनी मद-लिप्सा एवं घृणित मनोवृत्ति का नाटक रचने वाले पाखंडियों का पाखंड विनष्ट हो, इसके लिये मैं शक्ति भर प्रयत्न करूँगा... वज्जी-धर्म पर आँच आती है, आती रहे। मैं कल संस्थागार में, राजकों के समक्ष यह समस्या और इसका निदान अवश्य रखूँगा...देश-कल्याण एवं मानव-हित के निमित्त मेरे मत का संभवतः कोई विरोधी नहीं होने का...''

पूर्णा उठकर बैठ गयी।

अजय के निजी कविराज ने उसके पैरों के घाव के लिये ऐसी औषधि दी थी कि देखते ही देखते उसने अपना चमत्कार दिखलाया। घाव सूख-से गये थे। दुर्बलता निवारण के लिये अजय का प्रिय आसव, जो उसके लिये विशेष-रूप से निर्मित होता था, संजीवन बन गया था। सन्ध्या होते-होते वह चलने-फिरने योग्य हो गयी। उसने पुनः अपना वही कृत्रिम रूप धारण कर लिया था। पूर्णा, पूर्णजित् बन गयी थी। अजय का परिवार एक सम्माननीय अतिथि की भाँति उसका सत्कार कर रहा था। अपने पिता के समक्ष आकर

अजय ने पूर्ण सहित प्रणाम किया—"आओ, वत्स !" वृद्ध का स
पगा स्वर था। दोनों पास ही पड़ी चाँदी की गुलगुली पीठिका पर, पृथक्-
बैठ गये तो श्रेष्ठी ने पूछा—"वत्स अजय, कल रात्रिपर्यन्त तू अतिथि को
घुमाता रहा ?..."

"भन्ते, कल मित्रवर शिवदत्त ने नौका-विहार का आयोजन किया
वहीं पर विलम्ब हो गया। आयुष्मान् पूर्ण को वैशाली बहुत सुन्दर प्र
हुई भन्ते !"

"अच्छा !" वृद्ध की बाँछें खिल गयीं—"तुम वाराणसी निवासी
आयुष्मान् पूर्ण !—वाराणसी की महत्ता को यह वैशाली भला क्या पायेगी ?..

"नहीं भन्ते !" पूर्ण सलज्ज बोला—"यह वैशाली यथार्थ रूप में
अपूर्व लगी। लिच्छिवियों का पारस्परिक मतैक्य, सौहार्द-भावना, मानव
पोषण—सब कुछ किसी भी प्रदेश के लिये अनुकरणीय है..."

वृद्ध गद्गद् हो आया अपनी नगरी की प्रशंसा से—"तुम्हारे हृदय
यह विशालता है आयुष्मान् पूर्ण..." कहते हुए वे अजय की ओर उन्
हुए—"वत्स अजय, कल प्रातःकाल संस्थागार-गोष्ठी में जाना है तुम्हें..."

"मुझे स्मरण है !"

"कल रात सुना था, पुनः अपहरण की घटना घट गयी। सेनापति
कोई स्वजन-वधू थी—बेचारी अपने कक्ष में शयन कर रही थी और दुष्ट
किस कौशल से अपहृत कर ले गये। कुछ समझ में नहीं आता, इस
की घटनाओं का तात्पर्य क्या हो सकता है ! अपने सत्तर वर्ष के जीवन
मैंने ऐसी भयंकर घटनायें, वैशाली में न तो देखीं, न सुनीं। हमारे गुप्त
भी तो निष्क्रिय हो रहे हैं..."

"इन दुर्घटनाओं के मूल में बहुत रहस्य सन्निहित है भन्ते ! और उ
भेदन भी शीघ्र होगा !"

"तुम्हारा तात्पर्य ?"

"कल पता चलेगा भन्ते !"

"कहते क्या हो तुम अजय !"

"मेरे कथन में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है भन्ते !"

"स्पष्ट कहो वत्स अजय !" वृद्ध की मुख-मुद्रा अत्यन्त गम्भीर थी।

"भन्ते !" अजय को हिचकिचाता पाकर पूर्ण बीच में ही बोल उठा—"आप शंकित न हों। अत्यन्त विश्वस्त सूत्रों से अनुमान किया जा रहा है कि गुप्तचरों को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो चुका है। रहस्य-भेदन का पूर्ण समाचार, कल संस्थागार में होनेवाली बैठक के उपरान्त ही स्पष्टरूप में सामने आ सकेगा। मैं एक विदेशी-वणिक् हूँ फिर भी जाने क्यों, आपकी इस नगरी ने, आपके इस वज्जी-संघ ने मुझे मोह-सा लिया है। भन्ते, अब यहाँ से जाने की इच्छा नहीं होती..."

"तो रह जाओ न वत्स !" वृद्ध पुलक से भर उठा—"अजय और तुम्हारे में कोई अन्तर मेरा पितृ-हृदय नहीं मानेगा, विश्वास रखो !" अजय ने पूर्ण की ओर देखा और पूर्ण ने अजय की ओर। नयनों की भाषा में कुछ बातें हुईं, मन में एक मीठी टीस अँगड़ाई लेने लगी।

"भन्ते !" अजय ने आसन से उठते हुए सविनय कहा—"बन्धु पूर्ण को हट्ट-परिदर्शन कराने जाना है। आज्ञा..."

"जाओ, वत्स ! परन्तु देखो, अधिक विलम्ब नहीं करना। आज की वैशाली आशंकाओं में डूब-उतरा रही है..." वृद्ध कहते ही रहे और अजय ने पूर्ण के साथ प्रणाम कर प्रस्थान कर दिया।

अजय सीधे अपनी कक्षा में चला आया। पूर्ण ने धीरे से मुस्कराते हुए पूछा—"हट्ट-परिदर्शन क्या यही है ?"

"चलना चाहती हो पूर्ण ?..."

"चाहती हो...जैसे मैं...आयुष्मान् अजय, मैं आपकी नहीं, 'आपका' हूँ, इसे क्यों भूल जाते हैं ?" कहकर वह खिलखिला पड़ी। अजय के होठों पर भी मुस्कान की रेखा खिच आयी। उसने आगे बढ़कर पूर्णा की कलाई पकड़ ली और—"पिताजी तुमसे बहुत तुष्ट हैं पूर्णा !"

"हूँ !"

"तुम चली जाओगी तब..."

"अभी तो मेरा प्रमुख उद्देश्य बाकी ही है आयुष्मान् अजय !—इत
दूर से कांचन के लावण्य की परख लेने आयी थी। जानती कि यहाँ आ
ऐसी-ऐसी दुर्घटनाओं से सामना होगा तो कदापि वाराणसी छोड़ने का विच
न करती। मेरे आ जाने से तुम्हें भी अनेक असुविधाओं का सामना कर
पड़ रहा है..."

"नहीं पूर्णा !"

पूर्णा ने अपनी कलाई और जकड़ी हुई अनुभव कर मधुर-विरोध के भ
में कहा—"मुझे विदित है कि आप में शक्ति की कमी नहीं। मेरी कलाई
आपको उपयुक्त कैसे लगी शक्ति-प्रदर्शन के निमित्त, समझ नहीं पा
हूँ..." अजय ने उसके व्यंग का मर्म समझा या नहीं; परन्तु उसका मु
मंडल लज्जा से आरक्त अवश्य हो गया। धीरे से उसने पूर्णा की कल
छोड़ दी।

"शुभे !"

"नहीं, पूर्णा ही उपयुक्त रहेगा !"

"सच बताना, क्या तुम स्त्री ही हो ?..." वह अत्यन्त गंभीर हो आ
था; पर उसकी गंभीरता से पूर्णा पुनः हँस पड़ी। अजय को लगा कि
कक्ष्या में हीरे की घंटियाँ टुनटुना रही हों। उसकी आँखों में मद की एक प
सी छाया छलकी—वह आसव की नहीं, मनोद्वेग की थी। पूर्णा उससे
हटकर खड़ी हो गयी थी। कक्ष्या के कपाट से बन्द थे।

"कोई सुन ले तो !..."

"इसकी संभावना नहीं। पिताजी के अतिरिक्त इस भवन में,
संसार में ऐसा कोई अपना नहीं, जिसे मेरे लिये..." उसका स्वर क्षणभ
लिये आर्द्र-सा हुआ परन्तु दूसरे ही क्षण वह अतिशय गंभीर थ
"पूर्णा ! मेरी प्रकृति के सम्बन्ध में जानकर तुम्हें आश्चर्य हुए बिना न रहे

मेरी पचीसवीं वर्ष-गाँठ इसी वसन्तोत्सव पर पड़ी है, नारी—पूर्णा, तुम विश्वास करो या नहीं—मैं अपने इस अत्यल्प जीवन में एक ही नहीं अनेक नारियों—तरुणियों के निकट-साहचर्य में रहा परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि मुझे लगा हो, किसी के बिना जीवित नहीं रह पाऊँगा—या ऐसी भावना ही उठी हो कि उसमें मैं एकाकार हो जाऊँ...'' कहकर वह रुका, फिर—''नारी और पुरुष के एकात्मकता का विरोधी हूँ, ऐसा समझने की भूल नहीं करोगी; मेरे कहने का तात्पर्य...''

''जो भी हो परन्तु वह मेरे मस्तिष्क में अटेगा नहीं। भाषण-कला में आप शस्त्रकला से भी अधिक सिद्धहस्त हैं, इसके अतिरिक्त मैं कुछ समझ ही नहीं पायी...'' कहकर वह पुनः खिलखिला उठी।

''पूर्णा !'' अजय का स्वर कंपित था।

''क्या हुआ ?...''

''तुम्हें हँसी आती है ?''

''मैंने जीवन में रुदन को अपने पास फटकने नहीं दिया है आर्य अजय, है न !''

''बहुत रहस्यमयी हो तुम...''

''अरे, ऐसा लगता है तुम्हें ?'' उसने कपोल में अनामिका टिकाकर आश्चर्य का भाव जताया—''तब तो आप निस्सन्देह एक 'अपूर्व-पुरुष' की संज्ञा से विभूषित किये जाने योग्य हैं। देखती हूँ, वैशाली की नारियाँ ही नहीं, पुरुष भी विश्व-विश्रुत होने का...'' सहसा उसकी दृष्टि अजय की आँखों से जा टकराई, उसमें उसने पीड़ा की घनीभूत-छाया देखी। उसके रोम-रोम में अनायास ही सिहरन भर उठी—''क्षमा करें आर्य, मेरे विनोद को आपने अन्यथा के रूप में ग्रहण किया। आपको पीड़ित करने का मेरा अभिप्राय नहीं था...'' अस्त-व्यस्त स्वर में कह उठी वह। अजय ने कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप पास ही पड़ी एक कोमल आसन्दी पर धम्म से बैठ गया।

पूर्णा का कंठ रुद्ध हो आया—"आर्य, मैंने सचमुच अक्षम्य अपराध किया...
उसकी आँखें छलछला आईं।

"नहीं पूर्णा..." उसकी आँखों में अश्रु-विन्दु की छलकन पा अजय उठ
कर खड़ा हो गया—"क्षमा प्रार्थी तो मुझे होना चाहिये कि मैंने ऐसे
हास्यास्पद प्रसंग छेड़ा ?...मेरे चरित्र-वैचित्र्य पर तुम्हीं नहीं, कोई भी हँसने
को बाध्य होगा, हुआ है..."

"चरित्र-वैचित्र्य !"

"अच्छा, जाने दो। आओ चलो, तुम्हें घुमाने के निमित्त भी तो चलना
है ?..." कहता हुआ वह द्वार की ओर बढ़ा। बन्द द्वार पर आकर
वह रुका—"पूर्ण, तुम्हें मेरी बात से आघात लगा है ?"

"नहीं तो !" पूर्णा पास आ रही। अजय के कंधे पर हाथ रख दिया
उसने—"हाट-परिदर्शन कोई आवश्यक नहीं। मेरा मन जाने कैसा होता जा
रहा है..."

अजय घूम पड़ा। चिन्ता की रेखायें मस्तक पर स्पष्ट उभर आयीं—"तुम
अस्वस्थ हो पूर्णा !"

"नहीं आर्य !..."

"तो चलो, थोड़ा मनोरंजन ही होगा..."

वह विरोध नहीं कर सकी। प्रमुख-द्वार पर अजय का सुसज्जित रथ
स्थित था।

"रथ पर चला जाय ?"

"जैसी आपकी इच्छा !..." बाहर आते ही पूर्ण का स्वर एकदम
परिवर्तित हो गया था। अब संभवतः यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि
पुरुषवेश-भूषा के आवारण में एक लावण्यमयी तरुणी होगी !

अजय उसके रूप-परिवर्त्तन की असाधारण कला पर चकित था।

"तुम्हारी इच्छा !..."

"ऐसे ही चला जाय..."

"अत्युत्तम !..." दोनों एक ओर को बढ़ गये। द्वार पर उपस्थित अङ्गरक्षक ने साथ होना चाहा परन्तु अजय ने उसे रोक दिया। दोनों आभूषण-पणि की ओर बढ़ रहे थे। महार्घ से महार्घ आभूषणों एवं रत्नों की चकाचौंक में पूर्ण की आँखें स्थिर नहीं रहने पा रही थीं। लगता था कुबेर का सम्पूर्ण कोष वैशाली के उस हट्ट में रख दिया गया हो। क्रम-बद्ध पण्य-शालाएँ सूर्य के प्रकाश से होड़ ले रही थीं। क्रय-विक्रय से उत्पन्न जन-रव से विचित्र-सा वातावरण बन गया था।

"पूर्ण !..."

"हूँ !..." उसने मुड़कर देखा, अजय एक रत्न-शाला के समक्ष खड़ा हुआ विद्युत्-सी दमक रही एक मणि-माला हाथ में लिए निरूपण-निमग्न था।

"कैसा है पूर्ण ?"

"अति सुन्दर !" सचमुच मणिमाला इतनी मूल्यवान प्रतीत होती थी कि पूर्ण की आँखों में लुब्धता आ समायी। अब तक उसने इतने सुडौल, इतने दीप्तिमान और इतने बड़ी मणियों को सम्मिलित रूप में नहीं देखा था। उस एक रत्नशाला में ही इतना वैभव सिमट आया था, जिससे सम्पन्न से सम्पन्न राज्य क्रीत किये जा सकते थे।

"ले लूँ ?..." तभी अजय ने कह दिया। उसका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो आया। उससे पूछने का तात्पर्य ?—क्या उसी के लिये ?...नहीं-नहीं, भला उसके लिये इतनी महार्घ माला वह क्यों लेना चाहेगा ?

"बोलो, पूर्ण !" उसे हिचकिचाता देख अजय ने पुनः पूछा—"तुम्हीं से पूछ रहा हूँ..."

"नहीं !"

"क्यों ?" अजय चौंका—"क्या तुम्हें..."

"नहीं-नहीं !"

"तब तुम..." अजय पास आ गया उसके—"मेरी भेंट के रूप में इसे

अपने पास रख लो, जब तक यह माला तुम्हारे पास रहेगी, कम से कम वैश
की याद तो रहेगी...'' उसका स्वर मधुर गति से काँपा—''अगर तुम्हें स्वी
न हो तो हठ नहीं है मेरा...'' कहता हुआ निराश-भाव से रत्नशाला
ओर बढ़ा। पूर्ण ने लपककर उसका कन्धा पकड़ लिया—''आपको अस
करने का मेरा तात्पर्य नहीं था आर्य...'' भावावेग में आकर उस
नारीत्व स्वर में झलका परन्तु उसने तुरन्त ही त्रुटि-परिमार्जन कर लिया
''इसका मूल्य...यह बहुत महार्घ प्रतीत होता है...''

अजय के होठों पर फीकी-सी मुस्कान तिर उठी—''तुम मेरे स
आये हो पूर्ण...इसका तो ध्यान तुम्हें रखना ही चाहिये था। जाने दो त
मेरा अधिकार ही कहाँ है, यह सब कहने का! आओ, आगे चलें!...'' क
उसने मणिमाला रत्न-शालापति की ओर बढ़ा दी। बेचारा अजय के हाथ
उसे लेता हुआ, चकित-भाव से उसकी ओर निहारने लगा। अजय का
अरुण हो आया था। यह संभवतः पहली घटना थी कि उसने अपने मनोनु
कोई वस्तु हाथ में लिया हो और पुनः लौटाने का अवसर आया हो।
जल्दी से जल्दी वहाँ से हट जाना चाहता था।

''अन्नदाता!''

''क्या है रत्नाकर!''

''यह अनहोनी...''

''नहीं, मुझे भाया नहीं...'' उसने लटपटे स्वर में कह दिया।

''रत्नाकर'' को महान् आश्चर्य था—वैशाली के अपार सम्पत्तिशाली कु
पुत्र अजय—महार्घता के भय से कोई मणि-माला लेने से हिचकिचाये
असंभव; सर्वथा असंभव। सोच, वह पूर्ण की ओर उन्मुख हुआ
''आयुष्मान्! आपको प्रस्तुत मणिमाला क्या भायी नहीं?''

अजय थोड़ा आगे बढ़कर खड़ा हो गया था।

पूर्ण से सहसा कुछ कहते नहीं बन पड़ा; फिर भी उसने 'स्थिति' स

लनी चाही—"नहीं-नहीं, रत्नकार !...बात यह है कि इसका उपयोग भी तो होना चाहिये..."

"श्रीमन्तों की यह शोभा है आयुष्मान् !" रत्नाकर ने अजय को मणि-माला की ओर से अनमनस्क देख, पूर्णा पर हाथ मारना चाहा। उसके सतर्क मस्तिष्क में यह कौंधते विलम्ब न हुआ कि वस्तुतः, उसकी माला के क्रीत होने का आधार यही युवक है, अजय तो साधनमात्र है !

अजय कुछ दूर हटकर खड़ा था। पूर्णा के व्यवहार से वह मर्माहत-सा हो गया था—न जाने क्यों ?

"आयुष्मान् संशय में हैं ?" पूर्णा को धर्म-संकट में डालते हुए रत्नाकर ने पुनः टोका—"मगध-राज अजातशत्रु एवं महाराज बिन्दुसार ने इसे लेना चाहा था परन्तु मैंने इसलिये अस्वीकार कर दिया कि ऐसा अलभ्य रत्न अपने देश के ही किसी श्रीमन्त की शोभा-वृद्धि करने योग्य है...इसे देखकर कोई भी मुग्ध हो सकता है..."

"बन्धु अजयसेन !"

"हूँ !"

"तुमने तो मुझे धर्म-संकट में डाल दिया !" कहती हुई वह रत्नाकर की ओर उन्मुख हुई—"इसका मूल्य क्या है ?"

"बस, दश सहस्र स्वर्ण मुद्रायें..."

"ओह !"

मणिमाला उसके हाथ से छूटने ही वाली थी कि अजय ने आगे बढ़कर उसे ले लिया और उसके कुछ कहने के पूर्व ही बोल उठा—"इसे मैं लिये जा रहा हूँ, मुद्रायें तुम्हें मिल जायेंगी..."

"कोई बात नहीं अन्नदाता !..." रत्नाकर ने सन्तोष की एक लम्बी साँस के साथ कहा—"अन्नदाता की कृपा बनी रहे, यही प्रार्थना है..." मणिमाला लिये अजय घूम पड़ा और मंथर-गति से पण्य की भीड़ की ओर बढ़ा। पूर्णा उसके पीछे ही थी।

"बन्धु अजय !"

अजय अनायास ही मुस्करा उठा—"अब तुम्हारा कोई विरोध सु
को मैं तत्पर नहीं..."

"सुनो भी तो, मैं निर्धन...इतनी स्वर्ण-मुद्रायें...मेरा तात्पर्य, अगर तु
इसे सचमुच मेरे लिये क्रीत किया है तो..."

"तो ?.. "

"मैं असमर्थ हूँ..."

"और मैं ?—" वह कुछ बोल नहीं पायी। दोनों पण्य की सु
निहारने में लीन आगे बढ़ते गये। घंटों इधर से उधर पण्य का चक्कर का
रहने के बाद, जब दोनों लौटने को हुए तो सन्ध्या होने में अधिक विलम्ब
था। इस बीच अजय ने बहुत-सी वस्तुयें क्रीत कर ली थीं। एक बड़ा गट
बन गया था।

"तुम उदास हो ?" अजय ने पूर्णा को चिन्तन में देख पूछ लिया
"मुझसे कोई त्रुटि तो..."

अजय के बढ़ते हुए पग थम गये। उसने धीरे से पूर्णा की कलाई प
ली—"शुभे, तुम अपने को इतना तुच्छ क्यों समझती हो ?" पूर्णा ने कु
कहा नहीं। अजय का स्पर्श उसे एक दूसरे ही लोक में घुमा रहा था। दो
पुनः आगे बढ़ने लगे। क्रीत वस्तुओं का गट्ठर लेकर सेवक चला गया था

"अवश्य !" वे इस समय एक सँकरी-वीथिका से चल रहे थे। सन्
का झुटपुटा धीरे-धीरे सघन होता जा रहा था।

"भगवान् तथागत् क्या इस समय मगध में विहर रहे हैं अजय ?"

"क्यों ?"

"ऐसे ही, मगध-राज पर उनका प्रभाव सर्वविदित है। आपका व
संघ भी तो उनका कृपापात्र रहा है। संभव है, अजातशत्रु..." कहत
कहती पूर्णा रुक गयी, उसको किसी भारी-पग की आहट लगी थी अपने
भाग से। अजय भी सतर्क हो गया। उसका दायाँ हाथ तुरत कटि से लट

पाण पर लग गया। वीथिका जन-शून्य थी। अगल-बगल गगन-चुम्बी ट्टालिकाएँ खड़ी थीं।

"अजय !"

"हूँ !"

"कोई हमारा पीछा कर रहा है..." अभी उसकी बात पूरी भी नहीं पायी थी कि अजय ने कृपाण खींच लिया—"सावधान ! आगे बढ़ने का हस न करो..." और वह झपटकर पूर्ण के आगे आ रहा। दूर पर कोई ड़ा था परन्तु कुछ स्पष्ट नहीं दीख रहा था।

"कौन हो तुम ?"

और उत्तर में जो स्वर आया वह अट्टहास था। अजय के मुख से अस्फुट र में फूटा—"भिक्षु वसन्तक..."

"हा-हा-हा !..."

"आगे न बढ़ो भिक्षु वसन्तक !..." अजय ने अपने को स्थिर कर या था।

"हा-हा-हा..."

"पूर्ण का हृदय धड़क उठा। महाप्रभु के स्मरण मात्र से उसे रोमांच हो या। आकृति पास आ रही।

"कृपाण नीचे कर रे वणिक !"

अजय होष्ठ चबा रहा था।

"कल संस्थागार में जायेगा ?"

"हाँ..."

"हूँ !..." स्वर में कर्कश-आदेश सन्निहित था—"तो इसे कभी मत तना कि मेरे एक संकेत पर तेरा अस्तित्व मिट जायगा। तेरे प्राण मेरी लियों में हैं...और इस छोकरी को तूने पुरुष रूप तो प्रशंस्य दिया है णक !..."

"चुप रहो !"

महाप्रभु के हाथ फैल गये। अजय को लगा, जैसे किसी अदृश्य-श
उसे ढकेलकर पीछे कर दिया हो। कंठ प्रदेश में कुछ अँटकता हुआ-सा
उसे—"कल संस्थागार में तेरा जाना नहीं हो सकेगा—इसे स्मरण रख
तेरा अपराध अक्षम्य होते हुए भी इसलिये क्षम्य है कि तूने जो कुछ अन
में..." और वे पलक झपकते न जाने किधर अदृश्य हो गये। उनका क
स्वर वातावरण में अब भी गूँज रहा था...

षड्यंत्र की प्रतिष्ठा

मगध राज-प्रासाद की अपनी कक्षा में सम्राट् अजातशत्रु विकल
इधर से उधर टहल रहे थे, द्वार पर सशस्त्र प्रहरी सन्नद्ध-भाव से मूर्तिवत
थे। वातायन से राजगृह का सुशीतल पवन मन-प्राणों में नव-जीवन
संचार कर रहा था। परन्तु सम्राट् अजातशत्रु का ध्यान उधर था ही नहीं

"प्रहरी!"

द्वार पर खड़ा एक प्रहरी नतमस्तक भीतर आया—"महामात्य
कुछ संवाद?"

"नहीं अन्नदाता!"

"जाओ!"

बेचारा चुपचाप चला आया। अजातशत्रु पुनः विकल-मन टहलने
टहलते ही टहलते जैसे अपने आपसे ही बोल—"वज्जी...बीच की
नदी गंगा...मेरी आँखों में यह वज्जी क्या इसी तरह करकता रहेगा...मग

रमित शक्ति को प्रत्येक बार मुँह की खानी पड़ी...नहीं-नहीं, अब सह्य न ा...बीच की इस सीमारेखा को...इस गंगा को मिटा देना होगा...मिटा देना ा...शास्ता गौतम...वे मार्ग-दर्शन अवश्य करेंगे...परन्तु महामात्य को ना विलम्ब क्यों हो रहा है..."

"महाराज !..." द्वार से महामात्य वर्षकार की आवाज आई।

"आओ, आचार्य !..." अजातशत्रु उत्सुक भाव से द्वार की ओर ा—"शास्ता ने क्या कहा ?..." एक साथ ही उसने वर्षकार से अनेक न कर डाले।

वर्षकार श्लथभाव से आकर एक पीठिका पर बैठ गया—"महाराज, ागत के हृदय में वज्जियों के प्रति अगाध श्रद्धा है, उनके पतन की वे कल्पना संभवतः नहीं कर पाते !"

सुनकर अपनी स्वर्णपीठिका पर बैठा अजातशत्रु अवसन्न-सा रह गया। सकी आँखों में निराशा का भाव अत्यन्त स्पष्ट रूप में उठ आया।

"आप चिन्ता न करें !"

"चिन्ता न करूँ आचार्य !..." अजातशत्रु के मुख से कंपित स्वर में कला—"कैसे कहते हो ?...मगध के विख्यात सैन्य-बल को मुट्ठी भर च्छवि बार-बार अपमानित करते रहें और मैं निश्चिन्त रहूँ ?...यह कैसे भव है आचार्य !" उसने एक दीर्घ उच्छ्वास लिया—"तथागत ने या मेरे सन्देश पर कोई ध्यान ही नहीं दिया..."

"सो बात नहीं महाराज, उनका एकमात्र मन्तव्य था, मगध वज्जियों को च्छिन्न करने की महत्त्वाकांक्षा से विरत हो जाना चाहिये..."

"असंभव !..."

"तब एक ही मार्ग है..."

अजातशत्रु औत्सुक्यावेग से पूछ उठा—"वह क्या ?..."

"छल—"

"छल..." अजातशत्रु ने दुहराया—"छल से कैसे हो सकेगा आचार्य ?..."

"होगा, सब होगा महाराज...तथागत के विचारों से मैंने लक्षित कि
कि जब तक बज्जी सन्निपात बहुल रहेंगे, उनका पारस्परिक सौहार्द स्थिर र
तब तक कोई भी शक्ति उन्हें उच्छिन्न नहीं कर सकेगी। लिच्छवि धर्म-प्र
होते हैं, इसे सब जानते हैं परन्तु जब उनकी इसी ऐक्य-भावना पर आध
पहुँचेगा तो वे अपने सौहार्द-भाव को भूल जायेंगे। उनके बीच विष-विग्रह
बीज बोना अत्यावश्यक है महाराज !..."

"अजातशत्रु वर्षकार की युक्ति से प्रभावित होता जा रहा था—"पर
यह सब होगा कैसे ?..."

"सब होगा महाराज !...मेरे जाल में फँसकर आज तक कोई..."

"ठीक है, ठीक है !"

"हमारे गुप्तचरों ने कोई संवाद दिया ?"

"एक बात का पता लगा है। वैशाली में आजकल कुछ वाममार्गी ब
उत्पात मचा रहे हैं। संघ की ओर से बाहरी आक्रमणों के प्रतिरोध के लि
बड़ी सुदृढ़ रक्षा-व्यवस्था की जा रही है। सीमांत के सभी आक्रमणकारियों
ओर से हुए अभियानों का वे सतर्कता, सफलता एवं सरलता से प्रतिरोध क
सकें, इसके निमित्त वज्जी-संघ के सैन्य-विभाग में पर्याप्त सन्नद्धता लाने की चे
की जा रही है...और हाँ, मेरे एक विश्रब्ध गुप्तचर का संवाद है कि तिलोत्त
और सिंहा इस समय वैशाली की किसी गणिका के यहाँ सेवक का का
कर रहे हैं !"

"अच्छा !"

"हाँ, उन्हें जैसे हो हस्तगत करना चाहिये आचार्य !"

"जो आज्ञा !..."

"उस छोकरी ने मेरा जो अपमान किया है, उसे तुम्हें भूलना नहीं
आचार्य !..."

"मुझे स्मरण है..."

अजातशत्रु के आखें ढँप गयीं। अतीत-चिन्तन में वह खोया जा रह

ा। वर्षकार ने देखा और तब उसके होंठों पर मुस्कान की रेखा नृत्य कर उठी। जातशत्रु की मुद्रा पर उगते-मिटते भावों को देखकर वर्षकार मुस्कराता हा। अजातशत्रु ढँपी हुई पलकों के भीतर अतीत की उस घटना को साकार ोता देख रहा था, जो उसके जीवन में किसी समय उथल-पुथल का कारण न गयी थी...

● ●

तपोदा के तीर प्रस्तर-खंड पर एक किशोरी अपनी सघन-केश-राशि सुखा ही थी। अभी-अभी वह स्नान करके आई है। कटि-प्रदेश में एक वेष्ठननुमा स्त्र अँटका हुआ था। कटि के ऊपर एवं घुटने के नीचे का भाग एकदम नग्न ा। सद्यःस्नाता किशोरी की विवस्त्र-अंग-सुषमा की प्रभा से आस-पास बिखरी र्वत-मालायें जैसे अपने आप में ही सिमटी जा रही थीं। वातावरण में तपोदा ी अल्हड़ लहरें मादक संगीत उत्पन्न कर रही थीं। पार्वत्य-प्रदेश के गगन-ुंबी वृक्ष पवन का संस्पर्श पाकर मर-मर की ध्वनि कर रहे थे। किशोरी नश्चिन्त थी। जन-शून्य नदी की परिसरस्थ भूमि में उसे देखने वाला कोई न ा। उसके रोम-रोम से कैशोर्यगत उन्मुक्तता छलकी पड़ रही थी।

अचानक वह चौंक पड़ी। उसके कर्णप्रदेश में किसी आहट का संकेत मिला ा। दूर पर से अश्व के टॉपों की ध्वनि-सी मिली थी। अभी वह सतर्क होने ी सोच ही रही थी कि किसी दुर्दान्त वन्य-जीव की दहाड़ से वन-प्रान्त गूँज ठा। दहाड़ सिंह की है, यह समझते देर न लगी। अवश्य ही कोई आखेटी सिंह का पीछा कर रहा है। वह जल्दी-जल्दी अपनी केश-राशि झट-ारने लगी।

"सिंहा !..."

दूर पर एक शिलाखंड की आड़ से बहती तपोदा की निर्मल धार में स्नान करते हुए तरुण ने उसकी पुकार सुनी तो उछलकर बाहर आया।

"तिलो !..." भीगे वस्त्रों में ही वह आगे बढ़ा कि तभी सिंह की दहाड़

पुनः आई और साथ ही किशोरी की चीत्कार भी। हाथ में खड्ग लिये युव
दौड़ पड़ा।

किशोरी तक पहुँचने में उसे अधिक समय नहीं लगा।

"तिलो!"

"सिंहा, देखो...वह...वह..." वह दौड़कर उसके पास आ गयी। युव
ने उसे अपनी सबल भुजाओं में सम्हाल लिया। वह बहुत घबरा उठी थी
घबराहट में कटि-प्रदेश से अँटका वेष्ठन अस्त-व्यस्त हो उठा। वह नग्न प्रा
हो गयी। उसी समय एक विशालकाय सिंह आकर सामने गिर पड़ा। उस
मस्तक को फोड़ता हुआ एक तीक्ष्ण बाण पार हो गया था। गिरते ही उस
प्राण-पखेरू उड़ गये। युवक और किशोरी विस्फारित नेत्रों से देख ही रहे
कि—"अति सुन्दर..." किसी का स्वर सुनकर दोनों चौंक पड़े। दृष्टि उ
तो सामने मगध-नरेश अजातशत्रु को खड़ा पाया।

"महाराज, आप!" सिंहा अभिवादन करता हुआ बोला—"आखे
के निमित्त आप अकेले..." अजातशत्रु ने संभवतः सुना नहीं। वह किशोरी
नग्न-सौन्दर्य में खो-सा गया था। किशोरी ने संकुचित-भाव से झटपट वेष्ठ
को शरीर पर डाल—लज्जा ढकने की चेष्टा की। सिंहा ने अजातशत्रु की आँख
में वासना की चटखती हुई लपटें देखीं और तब उसकी भुजायें काँप-सी गयीं
मस्तक की शिरायें आवेग से तन गयीं।

"महाराज!"

"ओह, तुम हो राजसिंह!..." अजातशत्रु जैसे स्वप्न से जगे—"आखे
के निमित्त आया था...अरे, वह किशोरी..."

किशोरी आड़ में चली गयी थी।

"महाराज!"

सिंह का तीखा स्वर सुनकर अजातशत्रु की भृकुटि वंक हो गयी—"ठ
से बोलो राजसिंह..."

"महाराज!"

"वह किशोरी कौन थी ?"

"मेरी..."

"तुम्हें है ही कौन !..."

"वह मेरी धर्म-भगिनी है महाराज..."

"हूँ, तुम दोनों इस एकांत में क्या कर रहे थे ?"

"हम दोनों नित्य स्नान के लिये आते हैं..."

"हूँ !"

तब तक किशोरी वस्त्र परिवर्त्तन करके सलज्जभाव से सिंह की बगल खड़ी हो गयी थी। अजातशत्रु ने अपनी लोलुप-दृष्टि पुनः उस पर गड़ा दी। किशोरी का मन जाने कैसा हो रहा था।

"सिंह, बहुत विलम्ब हुआ, अब चलो !"

सिंह ने उसका हाथ पकड़ लिया और अजातशत्रु को अभिवादन करता हुआ एक ओर बढ़ गया।

अजातशत्रु का सर्वांग आवेश-कम्पित हो उठा। एक तुच्छ व्यक्ति उनका अपमान करके चला जा रहा था और वे क्रोध से थरथराते पैरों से प्रस्तर में छिद्र करने का असफल प्रयत्न करते हुए खड़े थे। वे दोनों जब तक दृष्टि-पथ से ओझल नहीं हुए, वे आग्नेय नेत्रों से निहारते रहे। किशोरी का उन्मादी-सौन्दर्य आँखों में किरकिरी बनकर करक रहा था। मन ही मन घुँटते हुए वे जब मृत सिंह की ओर घूमे तो सामने गुर्राती हुई सिंहनी दीख पड़ी, वह उछलने को तत्पर थी। सहसा वे किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो गये। सिंहनी ने मृत सिंह का एक बार चक्कर काटा और तब भयंकर रूप से गरज उठी। अजातशत्रु की विमूढ़ता एक झटके के साथ टूट गयी। हाथ धनुष पर दृढ़ हुआ परन्तु तब तक सिंहनी उछल पड़ी। उनके मुख से चीत्कार निकल गयी। सिंहनी उनके ऊपर चढ़ बैठी थी और वे चेतनाहीन-से होकर गिर पड़े थे...

जिस समय अजातशत्रु ने आँखें खोलीं उस समय उनके सारे शरीर में भयंकर पीड़ा हो रही थी। बड़ी कठिनाई से उन्होंने देखा—सिंह व्यस्त भाव से

उनके ऊपर झुका हुआ किसी पत्ती का लेप, सिंहनी के पंजों के द्वारा क्षत-विक्ष
शरीर पर चढ़ा रहा है। कराह उठे—"आह...मैं कहाँ हूँ..."

"अब आप सुरक्षित हैं महाराज !..." उन्हें चैतन्य हुआ देख, सिंह
सन्तोष की एक लम्बी साँस ली—"हम अधिक दूर नहीं जा पाये थे कि
आपकी चीत्कार और सिंहनी की दहाड़ सुन पड़ी...थोड़ी देर और हो गयी होत
तो...लगता है, आप एकदम असावधान थे तभी..."

"हाँ..." अजातशत्रु का स्वर अब भी रुक्ष था—"देखो, मुझे उठाक
अश्व के पास ले चलो..."

सिंह चौंक पड़ा। उसे ऐसी आशा न थी।

"महाराज !"

"चुप रहो..." सिंह की आँखों में रक्त उबल आया। मन में हुआ कि
उठकर चल दे परन्तु ऐसी स्थिति में छोड़कर चले जाना, 'मानवता'
स्वीकार नहीं किया।

रक्त का घूँट लेकर उसने बगल में खड़ी किशोरी को बुलाया—"तिलो
इधर आ..."

"क्या है ?..." उसकी त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। ऐसे पतित-हृदय
लिये, अपमान सहते हुए भी सिंह की इस 'सहृदयता' से वह जली-भुनी जा र
थी। अनमने भाव से उसने आगे बढ़कर सिंह की सहायता की। उस
अजातशत्रु को पैर की ओर से सम्हाला था। अजातशत्रु उसकी ओर उ
दशा में भी बड़ी लोलुप दृष्टि से देख रहे थे। तिलोत्तमा का हृदय घृणा
भर उठा।

सिंहा के शीघ्र पहुँच जाने से अजातशत्रु के प्राणों पर मँडराता संकट
टल गया परन्तु सिंहनी के विकराल-तीक्ष्ण-नखों ने उन्हें बुरी तरह आहत क
दिया था। उसके खड्ग के एक ही प्रहार से सिंहनी दो टूक होकर रह ग
थी। अजातशत्रु ने दो टूक पड़ी सिंहनी को देखा तो चकित रह गये
किशोरी की मदिर रूप-श्री क्षण भर के लिये विस्मृत-सी हो गयी—"इसे तुम

दो टूक किया है सिंहा !...'' उनके स्वर में आश्चर्य, रुक्षता और प्रशंसा की की मात्रा समान थी—सिंह का मन किशोरी की ही भाँति घृणा से भर उठा।

''महाराज, आप इतने तुच्छहृदयी होंगे, मुझे मालूम न था...मेरी मानवता विवश कर रही है अन्यथा आपको यहीं छोड़कर चल देता !''

''हूँ !''

अश्व पास ही था। परिस्थिति की विकटता ने मगध-नरेश को झटके के साथ चैतन्य लाभ कराया। सिंहा के सहारे वे अपने सिन्धु देश के परम सुन्दर अश्व पर जम कर बैठ गये। रक्त से सना उनका शरीर अत्यन्त वीभत्स हो रहा था।

''जा सकते हो !'' और स्वामिभक्त अश्व संकेत पाते ही राजधानी की ओर उड़ चला।

''अब ?...''

''क्या हुआ...दुष्ट हमारा अहित भी क्या कर लेगा ?'' किशोरी के स्वर में कैशोर्यगत निर्द्वन्द्वता फूटी पड़ रही थी—''बहुत होगा, हमें अपने राज्य से बाहर करवा देगा—बस, यही न ?...''

''पगली, इसे साधारण-से द्विअक्षरी 'बस' में टालना चाहती हो तुम...''

''तुम इतना भय क्यों करते हो ?''

''भय...नहीं, परन्तु...''

''हुँः, देखा जायेगा...'' और दोनों हाथ में हाथ दिये आगे बढ़ चले।

युवक था—अजातशत्रु के एक दूर के सम्बन्धी का सुपुत्र, जिसे पारिवारिक सीमा-बन्धन ने कभी अपना वीरत्व प्रदर्शित करने का संकेत ही नहीं किया था। वह वीर है, इसे स्वयं वह जानता था या जानती थी यह किशोरी, जिसने उसे बचपन से ही जाना है, समझा भी है संभवतः। किशोरी राजगृह के एक साधारण गृहपति की कन्या थी। शैशव बीता और तारुण्य ने दोनों को अपने आप में समेट लेना चाहा। परिवर्तन अनिवार्य था और प्रकृति की इस अनिवार्यता ने दोनों को क्रमशः निकट से निकटतम बना दिया। युवक का घर में बुला का नाम था—'सिंहा'। पुकारने वालों ने इस नाम में जाने क्या आकर्षण

पाया कि वही स्थिर होकर रह गया। किशोरी का नाम था तो तिलोत्तमा परन्तु सिंहा ने अपनी ही तरह उसका भी संक्षेपीकरण कर लिया था तिलो—दोनों का नैकट्य अटूट था।

पर्वतांचलों पर लेटी पगडंडी पर दोनों बढ़े जा रहे थे—"तिलो !"

"हूँ !"

"मुझसे रुष्ट हो ?..."

"हूँ !..."

"अपराध ?"

"जैसे तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं !" वह तिनक उठी—"मैं इस महाराज को पहले ही से जानती थी। तुम्हारा तो पारिवरिक-सम्बन्ध भी है। ऐसे देख रहा था पापी, जैसे उसने किसी तरुणी को कभी देखा ही न हो। तुम वही कार्य करोगे जो मेरी रुचि के सर्वथा प्रतिकूल हो !"

"मुझे कर्त्तव्यहन्ता बनने को कह रही हो तुम !"

"नहीं जी, इतनी घृणित दृष्टि से देख रहा था पापी परन्तु क्या तुमने एक बार भी इसे लक्ष्य किया ? क्यों करोगे, मैं तुम्हारी होती ही कौन हूँ ?" उसका उपालम्भ अब आँसुओं से भीग उठा था; देखकर सिंहा चौंक पड़ा। उसके पग अनायास ही स्थिर हो गये।

"तिलो !..."

"मुझसे मत बोलो सिंहा, तुम राजघराने के हो और इन राजाओं के लहू में जो रक्त प्रवहमान है उससे तुम्हारी भी शिरायें..."

"नहीं, तिलो !"

"सिंहा, संभव है मेरा समय भी कभी परिवर्तित हो जाय और संभव है यह भी कि जिसे तुम तुच्छ समझते हो अपने से, वही एक दिन उच्च हो जाय। समय के परिवर्तन से न तो मैं ही मुक्त हूँ और न तुम्हीं। यह भी असम्भव नहीं कि..."

"तिलो !" उसका स्वर आवेग से काँप रहा था—"अभी तुमने मु

पहचाना नहीं, समय का परिवर्तन हमारे ऊपर आया और हम एक दूसरे से विलग भी हो गये तो भी इसे कदापि नहीं भूलना कि तुम्हारी आर्त्त-पुकार पर मैं अपने प्राणों को हथेली पर रखे दीख पड़ूँगा...मैं जानता हूँ, मेरे कथन पर तुम्हें रंचमात्र विश्वास नहीं और न मैं अपने इस वचन की दृढ़ता के निमित्त कोई प्रयत्न ही करने जा रहा हूँ। मेरे जीवन की सार्थकता बस इसी में है कि तुम्हें मुझ पर, मेरे इस कथन पर कभी विश्वास हो जाय...मुझे और कुछ नहीं कहना है..."

तिलो चुपचाप आगे बढ़ती रही।

बाद की घटनायें तो विद्युत-सी घटित हुईं। आखेट से लौटने के तुरत बाद ही प्रतिहारियों को आज्ञा दी गयी कि सिंहा और तिलोत्तमा अभी महाराज के सम्मुख उपस्थित किये जाँय...सिंहा अजातशत्रु का कृपाकांक्षी पहले भी न था। सिंहा के मित्रों ने समाचार की सत्यता में कोई सन्देह नहीं रहने दिया। सहसा अजातशत्रु के कुपित हो जाने से उसपर कैसा भयानक संकट आ सकता है—कल्पनामात्र से उसे रोमांच-सा हो आया। अपने लिये तो उसे कोई विशेष चिन्ता न थी परन्तु इस संकट में तिलोत्तमा का क्या होगा ?—यह सोचकर तो उसकी आँखों के समक्ष अन्धकार ही छा गया। एक कोमल कलिका को अजातशत्रु जैसे षडयंत्री-शासक की कुदृष्टि से वह बचायेगा भी कैसे ? तिलोत्तमा को अपना कहनेवाला अगर कोई था तो उसकी वृद्धा-माता !—उसके तीन भाई एवं पिता सैनिक थे, अभी कुछ ही दिन पूर्व एक अभियान में सब के सब खेत रहे। सैनिक नियम के अनुसार वृद्धा एवं उसके लिये थोड़ी सहायता हर मास मगध-राज द्वारा मिल जाया करती थी। उसी ही माँ-बेटी का किसी तरह पोषण हो रहा था। वह भी अनाथ ही था। अपने चाचा के साथ रहकर, जो मगध-राज की सेना में नायक थे—किसी तरह अपना जीवन-यापन कर रहा था। चाचा ने उसकी असि-कला की दक्षता देख सेना में सम्मिलित हो जाने को कहा परन्तु वह सदैव उनके इस प्रस्ताव को टालता आया। प्रहरी उसके पीछे लगना ही चाह रहे थे।

जैसे-तैसे वह स्थिर हुआ और तिलो के साथ तत्काल राजगृह छोड़ देने का निश्चय किया। भागा-भागा तिलो के पास गया। स्थिति का ज्ञान होते ही बेचारी काँप उठी। अभी उसने कोई निर्णय भी नहीं किया था कि मगध सैनिकों ने चारों ओर से उस स्थान को घेर लिया। माँ-बेटी पर वज्रपात-सा हुआ। सिंहा ने खड्ग की मूँठपर हाथ रख लिया। उसकी आँखें आवेग से रक्तवर्ण हो उठी थीं।

"नहीं!"

"मुझे जाने दो तिलो!"

"देखो, इतने सैनिकों के समक्ष तुम्हारा यह कार्य दुस्साहस ही सिद्ध होगा। व्यर्थ प्राण देने से लाभ ही क्या?—हमें वे ले जाने आये हैं तो..."

"नहीं, मेरे जीवित रहते ऐसा नहीं होगा!"

"सिंहा, मेरे बाल्य-बन्धु, उत्तेजना से परे होकर तनिक स्थिति पर विचार करो...बन्धन-मुक्त रहे तो मुझे इस नीच के हाथों से निकाल ले आने के निमित्त तुम कुछ कर भी सकोगे ऐसे प्रतिरोध करोगे तो..."

तर्क अकाट्य था। उसे स्वीकार करना ही पड़ा। उसकी माँ मर्माहत होकर गिर पड़ी। सैनिकों ने द्वार तोड़ दिया था। तिलो का संकेत पाते ही सिंहा एक गुप्त-भूगर्भ कक्ष की ओर बढ़ गया। सैनिकों ने सिंहा की खोज की परन्तु व्यर्थ। अन्त में निराश हो वे तिलो और उसकी वृद्धा माता को ले गये। उनके चले जाने के बहुत देर बाद सिंहा बाहर आया। किसी तरह अपने को छिपाता हुआ वह राजगृह के राजप्रसाद की ओर बढ़ा।

और...और...

स्मृतियों की शृंखला सहसा टूट गयी। अजातशत्रु ने आँखें खोलीं।

"क्या बात है, आचार्य!"

"मैं घबरा उठा था महाराज..."

"मैं स्वप्न देख रहा था आचार्य!"

"बैठे-बैठे स्वप्न !..."

"अपने उस अपमान की ज्वाला में मैं दग्ध हो रहा हूँ। सिंहा और तिलोत्तमा ने मुझे जिस तरह अपमान की ठोकर मारी थी..."

"मैं जानता हूँ..."

"महामात्य, जैसे भी हो उन दोनों को मेरे समक्ष प्रस्तुत करो !"

"जो आज्ञा देव !"

"और हाँ, अपनी योजना स्पष्ट करो, इस बार जैसे भी होगा, लिच्छिवियों का मूलोच्छेद होकर रहेगा। भगवान् तथागत की सम्मति यथार्थ है। शत्रु को परास्त करने के निमित्त किसी भी मार्ग का अवलम्ब किया जा सकता है, उसमें कोई भी पाप या अन्याय नहीं। क्यों आचार्य !"

"सत्य वचन महाराज !" षड्यंत्री-ब्राह्मण बोला—"इस कार्य के निमित्त स्वयं तत्पर होना चाहता हूँ। मैं वहाँ जाऊँगा तो उन दोनों का भी कोई प्रबन्ध अवश्य हो जायगा। उन्हें जीवित पकड़ ले आना है—यही आपका मन्तव्य है न ?"

"हाँ !"

"तो आज्ञा दीजिये !" वह उठकर खड़ा हो गया—"आपको बस करना यह है कि मुझे तत्काल अपदस्थ कर दें !"

"क्या ?" उसके मुँह से साश्चर्य फूटा।

"घबरायें नहीं, मेरा तात्पर्य है, इस समाचार का प्रचार हो जाना चाहिये कि आपने मुझे अकारण ही अपदस्थ कर दिया है; बल्कि यह भी कि आप मेरे सम्पूर्ण-परिवार को मृत्यु के घाट उतार देना चाहते हैं... लिच्छिवियों तक भी यह सम्वाद विशेष रूप में पहुँच जाना चाहिये..."

अजातशत्रु बहुत देर तक गम्भीर भाव से सोचते रहे। महामात्य वर्षकार ब्राह्मण थे षड्यंत्राचार्य ! प्रस्ताव पहले तो निस्सार-सा लगा परन्तु वर्षकार की वाक्य-चातुरी ने परिणाम सामने रखा तो वह उछल पड़े।

दोनों षड्यंत्रियों की विचार-मग्नता में लिच्छवियों के उच्छिन्न होने का मार्ग प्रशस्त होने लगा।

षड्यंत्र की प्रतिष्ठा हो रही थी !

वर्षकार

मगध के नागरिकों ने सुना—महामात्य वर्षकार का देश-निष्क्रमण हो गया !—वे अत्यन्त अपमानजक ढंग से पदच्युत कर दिये गये !—तो जन-जीवन में जैसे स्फोट हुआ। सभी आतंकित-भाव से एक दूसरे की ओर देखते परन्तु उत्तर नहीं मिल पाता। मगध के उच्चपदस्थ राज-पुरुषों को भी कम आश्चर्य न था। महामात्य ने ऐसा कौन-सा आचरण किया कि मगध-राज को ऐसी आज्ञा देनी पड़ी। नाना प्रकार के अनुमानों के बवंडर उमड़ रहे थे। वर्षकार की संपूर्ण सम्पत्ति महाराज ने हस्तगत कर ली। उनके पारिवारिक-सदस्यों को राजमहल में वंदी के रूप में पहुँचाया गया। अत्यन्त विपन्नावस्था में वर्षकार जब राजगृह के राजमार्ग पर, सदैव के लिये स्वदेश-विलग हो, चले जा रहे थे तो ठट्ठ के ठट्ठ नागरिक आश्चर्यातिरेक से उन्हें घेरकर खड़े हो गये।

"महामात्य !..."

"विदा दो स्वजनो !..."

"आपका अपराध क्या है ?"

"होगा..."

"यह अन्याय हम सहन नहीं करेंगे महामात्य !"

"ऐसा हो नहीं सकेगा !..."

"महाराज को उत्तर देना होगा !..."

"शान्त रहो बन्धुश्रो !" श्रभिनय-पटु वर्षकार ने सहज-मधुर-स्वर में हा—"महाराज हमारे पूज्य हैं, हमें उनकी श्राज्ञाश्रों का पालन, जैसे ी हो, करना चाहिये ! मेरे स्वदेश-निष्क्रमण से श्रगर मगध का कल्याण है । धन्यभाग ! श्रब तक मगध की, श्राप स्वजनों की सेवा, शुभाशंसा में ीवन बिताया..."

"नहीं महामात्य !"

"हम ऐसा नहीं होने दे सकते !"

श्रपने कूटनीतिक-साफल्य एवं व्यवहार-कुशलता से वर्षकार ब्राह्मण ने ागध के श्रनेक वर्गों की श्रद्धा प्राप्त कर ली थी। उसके इस निष्क्रमण से मगध-ाज्य में शतशः ऐसे भी प्राणी थे, जिन्हें हार्दिक-परितोष हुश्रा था। ाह्मणत्व के श्रावरण में दानवत्व प्रदर्शित करनेवाले इस षड्यंत्री-ब्राह्मण से ंत्रस्त रहनेवालों की संख्या भी कम न थी।

"श्राप चले ही जायेंगे महामात्य !"

"जाना ही पड़ेगा भन्ते !" वह करुण स्वर में बोला—"राष्ट्रपिंड का प्रधिकारी जब तक था, तब तक...श्रब श्रौर राष्ट्र-पिंड मेरे भाग्य में नहीं ो..." श्रौर वह श्रागे बढ़ गया।

घटना वज्जी श्रौर मगध की सीमा-रेखा, गंगा इस पार भी पहुँची। वज्जी-संघ के नागरिकों ने इसे उत्सुकता से सुना, संस्थागार-सदस्यों ने भी सुना। वैशाली में साधारणतः इसे किसी राजनीतिक-षड्यंत्र की सम्भावना समझा गया। गंगा-सीमा पर उपस्थित सैनिकों ने जब देखा कि मगध महामात्य वर्षकार श्रत्यन्त दीन-हीन श्रवस्थामें नौका द्वारा सीमा पार कर रहे हैं तो वातावरण में उत्तेजना भर उठी।

"ब्राह्मण षड्यंत्री है..."

"अपनी सीमा में इसका आना अनर्थकारी होगा...बाण मारकर गि दो..." आदि अनेक प्रकार की बातें परस्पर व्यक्त की जाने लगीं।

"नौका आगे मत बढ़ाओ महामात्य !..." कई सैनिकों ने बाण संधा कर लिये। वर्षकार ने अपनी नौका का लंगर मध्य धार में गिरा दिया औ वहीं से चिल्लाकर बोला—"मैं शरणागत् हूँ सैनिको..."

"नहीं, लौट जाओ !..." कई कण्ठों का समवेत स्वर था।

"लिच्छिवि-धर्म अपने शरणागत को सदैव..."

"नहीं-नहीं !..."

"वज्जी-धर्म की जय हो..." वह आर्त्त स्वर में चिल्लाया।

"नौका मोड़ दो..."

"शरण दो !"

"नहीं, तुम हमारी सीमा में प्रवेश नहीं पा सकोगे वर्षकार ब्राह्मण !.. लिच्छिवि तुम्हारी कूटनीति से अपरिचित नहीं..." वातावरण मेंग हरी उत्तेजन व्याप्त हो गयी। वर्षकार के प्राण संकट में पड़ गये। क्षणभर के लिये व किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। सैनिक उच्चाधिकारियों की आज्ञा की प्रतीक्षा बाण संधान किये खड़े थे। किसी भी क्षण वर्षकार के प्राण स्वाहा हो सकत थे। वज्जी-संघ की नौकाओं ने क्रमशः उसकी नौका को घेरना आरंभ कर दिय था। समाचार मिलते ही वज्जी-संघ के उच्चाधिकारी एवं अनेक राजक आ पहुँचे। सबने विचार-विनिमय के पश्चात् निर्णय किया कि ब्राह्मण को इस पार आ जाने देना चाहिये; आगे जो विचार निश्चित होगा उसी के अनुसार कार्य किय जायगा। वर्षकार की नौका किनारे लगी। गुप्तचरों ने तुरत उसकी नौक और वस्त्रादि पर सतर्क दृष्टि डाली और तब वह अत्यन्त दीन स्वर में वज्जी- संघ एवं लिच्छिवियों की धर्म--प्राणता की जय-जयकार करता हुआ अपनी नौका से नीचे उतरा। सशस्त्र सैनिकों ने उसे चारो ओर से घेर लिया।

"अपना मन्तव्य स्पष्ट करो ब्राह्मण !"

"मैं शरणागत् हूँ !..."

वज्जी-संघ के कूटाधिकारी ने आगे बढ़कर पूछा—"सहसा मगधराज के रा आपको निष्क्रमणार्थी किये जाने से हम सन्देह में हैं वर्षकार ! और ना सन्देह-निवारण किये वज्जी-संघ शरणागत् स्वीकार करने में सर्वथा असमर्थ ..वज्जी-संघ में शरण पाने का अर्थ भी स्पष्ट करना अत्यावश्यक है !"

"मैंने अपराध किया था..."

"अपराध !"

"हाँ, वज्जी-संघ से द्रोह-विरत होने की सम्मति देने का अपराध..."

"कारण ?..."

वर्षकार सकपकाया।

"बोलो !"

"भगवान् तथागत की दिव्यवाणी से अनुप्राणित होकर श्रीमन् !"

"भगवान् तथागत्..."

"हाँ !"

"तुम पर वज्जी-संघ क्यों विश्वास करे, इस संबंध में अपना मत क्त करो..."

"मुझे शरण देकर वज्जी-संघ का लाभ ही होगा भन्ते ! मगध-राज के रा अपनी दीर्घकालीन सेवाओं का जो पुरस्कार मुझे मिला है, उससे मेरे ाह्मण-मन में भी प्रतिशोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी है। मैं दीर्घकाल तक गध का महामात्य रहा हूँ। मगध के आन्तरिक रहस्यों का जितना परिचय झे प्राप्त है, उतना संभवतः मगध-राज को भी नहीं होगा। वज्जी-संघ झे शरणागत बनाकर घाटे में नहीं रहेगा भन्ते !"

वर्षकार की वाचालता से सब प्रभावित होते जा रहे थे।

"तुम देश-द्रोह करोगे ?..."

"नहीं, इसे मैं देश-द्रोह नहीं मानता !"

"फिर ?"

"मैं पाप के नरक-कुंड से स्वर्गंगा में आया हूँ और अपने अपमान प्रतिशोध मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है..."

"तुम अपने को भगवान् तथागत का अनुयायी कहते हो !..." व संघ के सह-सेनापति ने गरज कर कहा—"उनके पावन-उपदेशों का तुम ऊपर कोई प्रभाव पड़ा होगा, विश्वास नहीं होता !"

वर्षकार ने देखा, वह स्वयं अपने ही फैलाये जाल में फँसता जा रहा है तुरत सतर्क हो गया और उसका शरीर एक बार आगे की ओर झुककर धड़ से भूमिष्ठ हो गया। सरल-हृदय लिच्छिवियों के मन में करुणा उत्पन्न हो आयी उन्होंने सारा द्वेष-भाव भूलकर उसे सम्हाला। वह मूर्च्छित-सा हो रहा था वज्जी-संघ के राजकों एवं उच्च राज-पुरुषों ने शिविका में लिटाकर उ संस्थागार-भवन पहुँचाया।

उपचारोपरान्त जब वर्षकार ने आँखें खोलीं तो अपने को संस्थागार एक सुसज्जित कक्ष में अनेक राजकों, सैनिक अधिकारियों एवं उच्चपदस्थ राजपुरुषों से घिरा हुआ पाया। राज-पुरुषों एवं उच्चाधिकारियों में कुछ ऐ भी थे जो अब भी उसे सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे। एक ओर खड़े दो राज पुत्र वार्तारत थे। एक ने कहा—"कुमार, विश्वासघाती ब्राह्मण को शरण देक वज्जी-संघ अनर्थ कर रहा है !"

"तुम्हें भ्रम हो गया है शशांक !..."

"नहीं कुमार बन्धु, मैं राजगृह में वर्षों रहकर विद्याध्ययन करता रहा हूँ मैंने इसकी प्रकृति का निकट से अध्ययन किया है। लिच्छिवियों के प्रति अजातशत्रु में विद्वेष अंकुरित-पल्लवित करने में वर्षकार का महत्वपूर्ण योग रहा है। अब सहसा ही यह कुचक्री-ब्राह्मण, लिच्छिवियों के प्रति इतना श्रद्धा-भाव कैसे रखने लगा—इसपर गंभीरतापूर्वक विचार किये बिना कुछ निश्चित करना अनर्थ का कारण होगा। मेरा अन्तर बार-बार कह रहा है, वर्षकार के निष्कासन में कोई गहरी चाल है। परिणाम शीघ्र ही प्रकट होगा, मेरा विश्वास है..." कहते-कहते उसकी दृष्टि उस ओर पड़ी, जिधर वर्षकार को

कर लोग खड़े थे—"आओ, चलकर देखा जाय, वहाँ क्या हो रहा ?..." दोनों उस ओर बढ़ गये। वर्षकार पर्यंक पर उठकर बैठ गया था।

"वज्जी-संघ की इस महती-कृपा के लिये मैं धन्यवाद देना चाहकर भी हीं दे पा रहा हूँ भन्ते !" उसने विनम्र-भाव से कहा।

वहाँ उपस्थित सभी उसके मधुर-स्वर से गद्गद् हो गये। शशांक के त्रों में जमी शंका भी इषत् कम पड़ी। कुमार ने उसकी ओर देखा और व मन ही मन मुस्करा उठा। धीरे-धीरे आस-पास की भीड़ छँटने गी। अन्त में जब कुछ उच्चाधिकारी शेष रह गये तो वर्षकार ने कहा—"मगध-राज के अब अवनति के दिन आ गये हैं। उनके अन्तर का धर्म-भाव नष्टप्रायः हो चुका है। उन्हें वज्जी-संघ से व्यर्थ की शत्रुता करता देख मैं मन ही मन अनुतप्त होता था परन्तु स्वामी का आज्ञा पालन करना अपना कर्त्तव्य समझकर मौन रह जाना पड़ता था। हृदय से न चाहते हुए भी, कर्त्तव्यपालन में लिच्छवियों को संतापित करने का पाप भी मुझसे अनेक बार हुआ। अपने मनोद्वेग से विवश होकर जब मैंने मगध-राज को अपनी सम्मति देनी चाही तो वे मुझ पर कुपित हो गये और परिणाम आप सब महानुभावों के समक्ष है..." कहकर उसने एक लम्बी साँस ली—"निष्कासन आज्ञा पाकर मैंने साथ में अपने परिवार को लाना चाहा तो उन्हें बन्दी बना लिया गया। मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति को बलात् राज्याधीन कर लिया गया। मुझे मार्ग का भिक्षु बनाकर तुरत स्वदेश छोड़ देने का आदेश दिया गया। आस-पास के अन्य सभी राज्य या तो मगध के प्रभाव में हैं या उसके अधीन। मुझे शरण इस देवलोक के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर मिलने की आशा नहीं थी। अतएव अपने अवशिष्ट जीवन को आप सबकी सेवा में व्यतीत कर सकूँ, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और होगा भी क्या ?"

"ठीक है, लिच्छवि-धर्म अपने शरणागत का कभी अनादर नहीं करता भन्ते !..." एक वृद्ध एवं प्रभावशाली राजक ने कहा—"हम संस्थागार में

इस प्रश्न पर अवश्य विचार करेंगे। इस समय कुछ ऐसी राजनीतिक स्थिति
गयी है कि सतर्कता बरतनी पड़ती है। आपके प्रति इसी कारणवश कुछ असम्
हो गया, जिसके लिये हमें हार्दिक खेद है..."

उसी दिन संस्थागार में निश्चय किया गया वर्षकार को शरण दे
वज्जी-धर्म है। वैशाली के नागरिकों की भी सम्मति ली गयी इस पर।
कोई योग्य कार्य सौंपना चाहिये, इस पर भी विचार-विनिमय हुआ। कूटनीति
वर्षकार सतर्क भाव से सब कुछ पता लगाने की चेष्टा कर रहा था। जब उ
संस्थागार में हुए इस निर्णय का समाचार विदित हुआ तो उसने तुष्टि की ए
लम्बी साँस ली। वज्जी-संघ उसकी कूटनीति से अपने को नहीं बचा पाया
उसकी इस सफलता का संवाद पाकर मगधराज कितने प्रसन्न होंगे, यह सोच
कर उसकी आँखें खिल जाती थीं।

नरक-कुण्ड

प्रत्यूष की वेला। वातावरण में सहज स्फुरण भर उठा था। एक अशुचि-
प्रकोष्ठ में कांचन माला विवस्त्र पड़ी हुई थी। हाथों एवं पैरों में लौह-शृङ्खला
जकड़ी थी। अचानक द्वार पर ठकठकाहट की ध्वनि हुई और अर्द्ध-निद्रित-सी
पड़ी कांचन सजग हो गयी।

"कौन ?"

"मैं हूँ कांचन ! तुम क्या बन्धन-मुक्त हो..."

कांचन ने ध्यान दिया किन्तु स्वर पहिचान में नहीं आया। चारो ओर
गहन तमिस्रा व्याप्त थी, हाथ को हाथ नहीं दीख पड़ता था।

"कौन हो तुम ?" वह उठकर बैठने को हुई तो पैरों की शृङ्खला खनक
ठी। खिसकती हुई वह द्वार की ओर बढ़ी।

"तुमने मुझे पहचाना नहीं कांचन..."

"कौन..."

"मैं हूँ, अजय..."

"अजय...आर्य अजय...आप और इस नरक-कुंड में..."

"धीरे बोलो कांचन !"

"मुझे आश्चर्य है आर्य अजय..."

"ओह, शब्द न करो...देखो, मैं किसी तरह बन्धन-मुक्त हो गया हूँ।
ई दिवस से तुम्हारे पास वाली एक दूसरी कक्षा में पड़ा हुआ था। तुम्हारी
ह दासी तिलोत्तमा भी यहीं है। क्या तुम महाप्रभु की कुचेष्टाओं
फलस्वरूप..."

कांचन रो पड़ी। लौह-शलाका-निर्मित द्वार से लगकर वह रोती रही।
जय ने अन्दर हाथ डालकर उसे सान्त्वना दी—"अच्छा यह बताओ, तुम
न दुष्टों के साधन-कक्ष तक ले जाई गयी हो या नहीं ?"

कांचन स्मरणमात्र से रोमांचित हो उठी—"आर्यपुत्र, उस नरक का
रण न दिलायें !—क्या आपको विदित है कि यह स्थान कहाँ पर स्थित है ?"

"तुम्हें नहीं मालूम ?" अजय का स्वर आश्चर्य में डूबा था—"तुम यहाँ
क लाई कैसे गई थीं कांचन !"

"अचेतावस्था में !"

"हूँ !"

"क्या आप भी ?"

"न, मैं तो सचेत ही आया हूँ !"

"आये हैं !—आपका तात्पर्य क्या यह है कि आप स्वयं यहाँ आये हैं ?
या आप मेरी तरह बन्दी नहीं ?..."

अजय ने एक दीर्घ निश्वास लिया—"नहीं कांचन, मैं भी तुम्हारी ही

तरह वन्दी बनाकर लाया गया हूँ परन्तु मैं यहाँ के रहस्यों से पूर्णतया अ
गत हो गया हूँ। मुझे वन्दी बनाने का यही कारण भी है। बहुत प्रयत्न क
पर भी मैं इन दुष्टों के साधन-कक्ष तक पहुँच पाने में असमर्थ रहा।
स्यात् न जानती होगी कि इस समय हम वैशाली के एक विख्यात बौद्ध-वि
में पड़े हैं !"

"बौद्ध-विहार !—आर्य अजय, आप कह क्या रहे हैं ! क्या यह क
संभव है कि भगवान् तथागत के जीवन-काल में ही उनके विरोधी इस तरह-
मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है..."

अजय ने धीमें स्वर में कहा—"यह सब फिर कभी...किसी के आने
आहट आ रही है। संभवतः कोई आ रहा है। मैं चल रहा हूँ। इन पापिष्ठों
अन्त अब सन्निकट है ! थोड़ी देर बाद आऊँगा तो..." और वह विद्युत
गति से अँधेरे में जाने कहाँ लुप्त हो गया। दूसरे ही क्षण दीपदंडिकायें लि
दो दैत्याकार पुरुषों ने प्रवेश किया। उनका सर्वाङ्ग नग्न था। कांचन ने अपन
आँखें बन्द कर लीं लज्जा से। दोनों इधर-उधर जाने क्या देखते रहे।

"इधर भी नहीं !"

"अनर्थ हो गया जम्बुक !...महाप्रभु आते ही हमें..."

और वे जिस ओर से आये थे, उधर ही चले गये। कांचन ने अनुमान
लगाया, दोनों अजय की ही खोज में आये होंगे ! उसके बन्धन-मुक्त हो जाने
से बहुत घबराये-से लगे थे दोनों।

उसके मानस में नाना प्रकार की दुश्चिन्तायें घुमड़ उठीं। इस 'पाताल-
पुरी' में दिन-रात का कुछ भास ही नहीं हो पाता। अब तक वह बौद्ध-भिक्षु ही
समझ रही थी परन्तु...अजय के कथनानुसार यह सब के सब कृत्य बौद्ध-विहार
में ही हो रहे हैं !—इसकी कभी कोई कल्पना भी नहीं कर पायेगा ?

वह वहीं पर मस्तक पकड़कर बैठ गयी। दो-तीन दिन हुए होंगे—उसे
बलात् न जाने कहाँ ले जाया गया था। जिस कक्ष में वह लाई गयी थी,

ह सम्पूर्ण काले रंग से पुती थी। वहाँ का वातावरण इतना भयोत्पादक था क उसके मुख से चीत्कार निकल गयी थी।

"कांचन, इधर आ!" महाप्रभु का स्वर था। घूमकर उसने देखा तो किसी देवी की भयानक मूर्ति के समक्ष एक विशालकाय कापालिक पद्मासन में ठा था। उससे कुछ दूर हटकर महाप्रभु भी आसीन थे। मूर्ति की दायीं ओर एक कुंड में कोई तरल पदार्थ भरा हुआ था।

"गुरुदेव!" महाप्रभु ने कहा—"यही है कांचन!"

"हूँ!" उसने एक भयकर हुंकार की—"तुम वसन्तक, सचमुच सिद्ध होने योग्य हो!—हमारी देवी इसे सेविका रूप में पाकर प्रसन्न होंगी!" महाप्रभु ने उठकर अपने वज्र सदृश हाथ से उसकी कलाई पकड़ ली और— 'चल री, गुरुदेव और देवि को प्रणाम कर!..." उसने झटककर अपने को छुड़ाना चाहा पर व्यर्थ। महाप्रभु ने झटका देकर उसे उस दैत्य की ओर ठेल दिया। पैर बँधे होने के कारण वह सम्हल नहीं पायी और धड़ाम से गिर पड़ी। कापालिक दैत्य हा-हा-हा करके अट्टहास कर उठा।

"वसन्तक!"

"गुरुदेव!"

"इसे बन्धनमुक्त कर दो...तुम्हारी वैशाली विचित्र है, अनुपम है...साधन की इतनी अलभ्य सामग्री अन्यत्र दुर्लभ ही समझो..."

"पापी!"

"चुप रह कांचन!" उसे आवेश में आती देख महाप्रभु आगे बढ़ आये—"गुरुदेव तुझ पर प्रसन्न हुए, अपना अहोभाग्य समझ। गुरुदेव की कृपा प्राप्त कर तेरा सौन्दर्य सफल हुआ, इसका तुझे गर्व होना चाहिये! गुरुदेव, एक बार मेरे मुख से गौतम की निन्दा सुनकर यह कुपित हो गयी थी— हा-हा-हा!—गौतम को अपना आराध्य मानती है..."

"तेरा नाश सन्निकट है पाखण्डी!"

अपनी विवशता पर कांचन बिलख उठी।

"नाश !—हा-हा-हा..." वह पुनः अट्टहास कर उठा—"गौतम के अनुयायियों का हमें मूलोच्छेद कर ही देना है। वसन्तक, तू क्या सोच रहा है रे ?"

"कुछ नहीं; गुरुदेव !"

"मिथ्या मत बोल रे !"

"गुरुदेव, मैं किंचित अस्वस्थता बोध कर रहा हूँ।"

"प्रसाद ले ले !"

"नहीं !"

किन्तु तब तक उसने एक पात्र को कुंड में डुबोकर बढ़ा दिया—"इसे ग्रहण कर, चित्त की सारी अस्वस्थता एक क्षण में विलीन हो जायगी। हाथ बढ़ा वसन्तक !" महाप्रभु का यह नाम कांचन ने प्रथम बार सुना था। उसके स्वर में जाने क्या था कि वे स्थिर नहीं रह सके। उनके हाथ से बढ़ाये गये उस पात्र को ले लिया। कांचन ने अनुभव किया, वह कोई तीव्र मदिरा थी—आश्चर्या-तिरेक से वह बौद्ध-भिक्षु को मदिरापान करते देख रही थी।

"तू भी ले !"

कापालिक ने महाप्रभु से रिक्तपात्र लेकर उसे पुनः कुंड में डुबाया और उसकी ओर बढ़ा दिया। उसके रोम-रोम में कम्पन भर गया।

"नहीं !"

"ले !"

और जाने कैसे उसने किसी अज्ञात शक्ति के वशीभूत होकर उस पात्र को ले लिया !

"ग्रहण कर !"

पात्र रिक्त हो गया। लगा कि जैसे कंठ प्रदेश से लेकर हृदय तक एक अग्नि-रेखा खिंच गयी हो; उसकी आँखों के समक्ष अन्धकार-सा छा गया। उस दैत्य ने उसे पकड़कर खींच लिया और—"वसन्तक, इसे नग्न कर दे !"

वह काँप उठी। महाप्रभु ने आगे बढ़कर उसे विवस्त्र कर दिया। उस दैत्य

ी उसे पुनः अपनी ओर खींचा और वह उसकी गोद में थी। वह भयंकर रूप
में अट्टहास कर उठा।

"यह रुपाजीवा है वसन्तक !"

"यथार्थ है गुरुदेव !"

"जनपद कल्याणी अम्बपाली की तरह ?"

"ओह, वह तो...वह तो..."

"क्या प्रलाप कर रहे हो बसन्तक !"

सुनते ही महाप्रभु को तो जैसे विषधर सूँघ गया। मुख-मुद्रा पर उगी
मदविह्वलता की आभा को एक झटका-सा लगा—"गुरुदेव, अम्बपाली...उसे
अपने...मैंने तो उसे परम लावण्यमयी समझा है..."

"हूँ, इधर आ !"

महाप्रभु उनके पास खिसक आये। कापालिक ने कोमल-कलिका को अपनी
बलिष्ठ भुजाओं में पीस-सा दिया था—"इसकी दीक्षा की व्यवस्था शीघ्र होनी
चाहिये..." कामोत्तेजना से हड़बड़ाकर वह उठ पड़ा—"अनिद्य सुन्दरी है यह
वसन्तक !—दीक्षा तक इसका पवित्र रहना आवश्यक है, ध्यान रखना
वसन्तक—समझा !"

"जो आज्ञा !"

कांचन एक ओर पड़ गयी थी। महाप्रभु ने उसे हिलाया। भय से वह
चेतनाहीन हो गयी थी।

"वसन्तक !"

"आज्ञा महाप्रभु !"

"तुम्हारे अनुयायियों की संख्या-वृद्धि तो हो रही है न ?"

"नहीं महाप्रभु !"

"नहीं ?"

"हमारी हालत चिन्ताजनक है गुरुदेव !"

"ऐसा क्यों ?"

"'शास्ता गौतम का प्रभाव !"

"'शास्ता गौतम !" एक गुर्राहट-सी निकली—"'अपनी जिह्वापर अधिका
रखने का प्रयत्न करो—"'मेरे समक्ष गौतम के लिए 'शास्ता' सम्बोधन करने
का तुम्हें साहस क्योंकर होता है..."

"'अपराध क्षमा करें गुरुदेव !" वसन्तक भीत स्वर में बोला—"'जनपद
कल्याणी अम्बपाली के सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ विदित नहीं। इस संघ पर
अपना प्रभुत्व स्थापित करने में गौतम की कृपा..."

उसने आग्नेय-नेत्रों से उसकी ओर निहारा—"'आज देख रहा हूँ, तुम
पर गौतम का प्रेत आ गया है। तुम देखोगे, हमारा वाम-मार्ग एक दिन
'विश्व-गुरु' के पद पर स्थापित होकर रहेगा...तुम्हारे 'शास्ता' का नामोल्लेख
अतीत की कथाओं में वर्णित भले हो परन्तु...विश्वास रखो, एक दिन तुम्हें
समग्र वैशाली, वज्जी-संघ का धर्म-अधिनायक बना दूँगा। बस, मेरे इङ्गित पर
कार्य-रत रहो। मनुष्य की योनि में जन्म लेकर केवल उपदेशों, भिक्षाटन एवं
पवित्रता को गले से लगाये फिरना, निस्सारता के अतिरिक्त और है भी क्या ?
हमने सुना है, गौतम पुनः इधर आयेंगे ?"

"'यथार्थ है गुरुदेव !"

कांचन अब तक अचैतन्य-सी पड़ी थी। उसकी ओर अपनी लुब्ध-दृष्टि
फेंकता हुआ वह बोला—"'देख रहे हो न इसे, प्रथम-दर्शन, प्रथम-स्पर्श में
ही अचैतन्य हो गयी...हा-हा-हा...और हाँ, तुम्हारे इस वन्दी-गृह में कितने
वन्दी वर्त्तमान होंगे...वाराणसी से भिक्षुणियों के रूप में जो आयी थीं, उन
पर बहुत सावधानी से दृष्टि रखनी है। उस दुष्ट वणिक ने—अजय नाम है
न उसका ?—हमारे कई शिष्यों को हत कर डाला और सो भी तुम्हारे इसी
मठ में..."

वसन्तक पूर्णतः मौन रहा।

"'तुम महाप्रभु के रूप में किसी को यह विदित नहीं होने दो कि वैशाली के
इस बौद्ध-विहार के आवरण में कैसी 'साधना' चल रही है। और हाँ, वाराणसी

लाई गयी देवि-सेविकायें अब व्यर्थ-सी हो रही हैं। उनसे देवी प्रसन्न नहीं होंगी। तुम्हें जैसे भी हो इनकी संख्या में नवीन वृद्धि करनी होगी...सुजाता को ठिकाने लगा दिया न ?—उसके अपहृत होने से राजकों में आतंक तो छा ही गया होगा—क्यों ?"

"पर्याप्त गुरुदेव !"

"और वणिक-पुत्र अजय ! तुम कहते थे न, वह असि-संचालन में अत्यधिक निपुण है, उसके इस नैपुण्य से मुझे आशंका होती है वसन्तक !"

"वह बन्दी है गुरुदेव, आपका संकेत पाते ही अपने जीवन की अन्तिम साँस लेगा। सारा नैपुण्य देवी की वलि-वेदिका पर भस्म हो जायगा। उसके लिये आपने अभी कोई निश्चय नहीं किया ?"

"करूँगा...करूँगा..." उसका मुखमण्डल भयंकर से वीभत्स हो गया था—"तुम्हारा अनुमान है, उसके इस प्रकार लुप्त होने से वज्जी-संघ की राजनीति में भयंकर उथल-पुथल हो गयी है !—क्या उसने हमारी उपस्थिति का सचमुच ज्ञान प्राप्त कर लिया है वसन्तक !" वीभत्स-भयंकरता पर चिन्ता की एक मोटी परत पड़ गयी

अचैतन्य का रूपक दिये कांचन सब कुछ देख-सुन रही थी। वैशाली इस समय इन लोलुपों का केन्द्र-स्थल बनना चाहती है; इसकी कल्पना मात्र से रोमांच हो आया उसे। शास्ता गौतम का एक अनुयायी इतने घृणित कार्य-व्यापार में संलग्न हो सकता है—आश्चर्य से उसकी आँखें अनायास ही खुल गयीं। उसे चैतन्य हुआ देख—"अब यह चैतन्य हो गयी है, इसे सुरक्षित-स्थान में पहुँचाने की व्यवस्था करो !" कहकर वह मूर्ति के पार्श्व में बने भूगर्भ स्थित कक्ष के द्वार से नीचे उतर गया...

कांचन का सारा शरीर श्वेद से गीला हो उठा था। उस क्षण की स्मृति-मात्र से उसके प्राणों में कम्पन भर उठा। तभी द्वार से किसी ने पुकारा। चौंककर उसने निहारा तो अजय खड़ा था !...

"कांचन !"

"आप आ गये आर्य अजय..."

"हाँ, कौन था वह ?"

"संभवतः इस नरक के दो प्रहरी थे। किसी की खोज कर रहे थे..."

"ओह, तो मेरे बन्धन-मुक्त होने का भास हो चुका है। देखो, कल सन्ध्या को तुम्हारे साथ ही दो अन्य देवियाँ साधन-कक्ष में दीक्षित की जायेंगी। अपने को सतर्क रखना। एक बार इन दैत्यों के साधन-जाल में आकर पुनः मुक्त होना असंभव है—मुझे एक बार जैसे भी होगा बाहर जाना है। कल सन्ध्या तक या तो इन दुष्टों का उच्छेद ही होगा अन्यथा..."

"अन्यथा ?"

अजय ने कुछ कहा नहीं। एक लम्बी साँस के साथ मुड़ने ही वाला था कि किसी का कर्कश कंठ-स्वर आया—"सीमा का अति-क्रमण न कर रे वणिक-पुत्र !"

अजय ने तुरत अपने को एक ओर कर लिया। स्वर एक दैत्याकार कापालिक मुख से निकला था। गहरे श्यामवर्ण, प्रज्वलित आँखें और हाथों में विकराल त्रिशूल !—प्रत्यूष की सघनता छँट रही थी। अजय के भीत नेत्रों से देखा, उसके पृष्ठ भाग में तीन-चार दानव-सदृश भिक्षु और खड़े थे। उनके हाथों में दंड-दीपिकायें थीं।

"क्या हो रहा था ?"

अजय को लगा कि उसकी दृष्टि कापालिक के प्रज्वलित नयनों से निकल रही ज्वाला में समाहित होती जा रही है। कांचन उसे देखते ही अचकचा कर पीछे हटी तो धड़ाम से गिर उड़ी। अजय ने स्थिति की भयंकरता का भास आनन-फानन में कर लिया। उसे यह समझते भी देर नहीं लगी कि यही वह कापालिक है, जिसके संकेत पर श्रमण वसन्तक पथ-भ्रष्ट हुआ।

"उत्तर दे वणिक-पुत्र !" वह पुनः गरजा। अजय के पैरों में कम्पन भर उठा। उसने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया था—"मैं उत्तर देने को बाध्य नहीं !"

कहता हुआ वह विद्युत-गति से उछल कर उसके पीछे हो रहा और
लक झपकते ही आगे बढ़ता दंड-दीपिकाधारी भूमि सूँघने लगा। अजय
को उसके हाथ का त्रिशूल छीनते देर नहीं लगी। कापालिक क्षण भर के लिये
किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया था। जब उसने अपने को स्थिर किया तब तक दो
अन्य अजय की क्षिप्र-गति में पड़ धराशायी पड़े थे।

"वणिक !"

अजय ने अपने हाथ का रक्तस्नात त्रिशूल उसकी ओर तान दिया और—
"बस, सावधान..." तभी कापालिक का हाथ सीधा हुआ और त्रिशूल अजय
के हाथ से छूट पड़ा।

"सचमुच तू बहुत दुष्ट है रे वणिक ! उस दिन तूने तीन-चार अनुचरों
को...आज भी...चल, तेरी व्यवस्था भी होती है, अब बहुत हो गया..." उसके
इंगित पर अजय मंत्र-मुग्ध की भाँति घूम पड़ा। दो अनुचर तो निष्प्राण हो ही
गये थे। शेष तीन ने अपने हाथों की दड-दीपिकायें ऊँची कीं और उसके पीछे-
पीछे चल पड़े।

वहाँ पर पुनः घोर अन्धकार छा गया। कांचन ने भीत-दृष्टि से सब
कुछ देखा था। देखकर भी उसके मुँह से स्वर नहीं फूट पाया था !—हे
भगवान्, किस नरक-कुंड में आ पड़ी है वह। अजय के प्राणों की आशा
अब उसे नहीं रह गयी थी। आज न जाने क्यों इस अजय के प्रति उसके मन
में मोह का सागर-सा लहर उठा है। वह रूपाजीवा थी। मोह नाम की
किसी वस्तु से सर्वथा नहीं तो बहुत दूर रहनेवाली—रूपाजीवा ! मोह का
अभिनय ही उसकी आजीविका थी। उसके लावण्यज्वाल पर अब तक जाने
कितने अपना जीवन होम कर चुके थे। फिर नवीन-सा लगनेवाली यह
पीड़ा क्यों ? यह है क्या ? उसने अपने आपको झटकार-सा दिया—वणिक-
पुत्र अजय के लिये वह इतनी विकल क्यों हो रही है ? वैशाली के तरुण-वर्ग
के आकर्षण की केन्द्र विन्दु, अम्बपाली के अतिरिक्त संभवतः वही थी। जाने
कितने राज-पुत्र, वणिक-पुत्र, अपनी वासना की तुष्टि का साधन समझ, उसके

पास आते रहते हैं और वह उनकी तुष्टि—मूल्य लेकर विक्रय कर देती थी अपने चौबीस वसन्तों की आयु में...नहीं-नहीं—विचार-शृंखला को एक झटका लगा—क्या अब तक उसने अपने को मोह से सर्वथा पृथक ही रखा है?—अवश्य!—नहीं! क्रेताओं ने उसे विक्रय की सामग्री समझा और वह?—उसने भी बिना किसी हिचक के रूप-राशि को हाट पर बिखेर दिया—सजाकर, सँवार कर। रूप के इस हाट में मन का भी कोई अस्तित्त्व है होता है, कभी सोच भी नहीं पायी। अजय!—उसका सर्वांग रोमांच से भर उठा—यह अजय सम्भवतः उसकी रूप-हाट में चार-पाँच बार से अधिक नहीं आया। प्रथम बार अपने मित्र शिवदत्त के साथ और पुनः स्वयं अकेले। वैशाली के सबसे अधिक वैभव-सम्पन्न श्रेष्ठि-पुत्र अजय को अपनी हाट में पाकर वह एकबारगी ही प्रसन्नता के हिंडोले पर झूल उठी थी। वह भली-भाँति जानती थी कि अजय रूपा-जीवियों से घृणा करता है!—अम्बपाली ने अजय के सम्बन्ध में अपने अनुभूत विचार प्रकट किये तो उसने ओंठों पर एक गर्वभरी मुस्कान लाकर कहा था—'देवि, उसकी इस घृणा को मैं भस्म कर दूँगी!' और सुनकर वे भी मुस्करा उठी थीं। अनेकबार प्रयत्न करके जब हार गयी तो सोच लिया—'इस षंड (क्लीव) के योग्य यह क्षेत्र है भी नहीं!' परन्तु मन का कोई कोना अपनी इस हार से सदैव करकता रहता। आँखों में अजय—यही अजय, जब तब अपनी उपेक्षा से काँटों की चुभन भर जाता। जब शिवदत्त के साथ अजय को अपने केलि-कुंज में आता पाया तो भावावेग से उसका सम्पूर्ण अंग थरथरा उठा था। शिव उसपर बुरी तरह मुग्ध था। उसे शिवदत्त जैसे 'क्रेताओं' में कोई वैसी रुचि नहीं थी। उन्हें उन्मादी बनाकर अधिक से अधिक स्वर्णार्जन करना ही—प्रमुख ध्येय रहता। वह उसके मन को नहीं, तन को चाहता था और तन-समर्पण में उसे कोई असुविधा नहीं होती थी। तनार्पण एवं दैनिक-कर्मों में वह कोई विशेष अन्तर नहीं समझती थी। मद-घूर्णित नयनों के शर को और तीक्ष्ण करते हुए उसने स्वागत में अपनी भुज-वल्लरियों को आगे कर

या। अजय ने उसे साश्चर्य निहारा और—'शुभे, कांचन तुम...'' उसने भी ष्टि उठाई। स्वर ने नहीं, आँखों ने पूछ लिया था जैसे—'बोलो न, प्रियतम !'' रन्तु अजय ने पुनः कुछ नहीं कहा। आसव-पात्र को जब अजय ने शिव के हुत कहने पर भी स्वीकार नहीं किया तो कांचन अपमान से जैसे काँप ठी थी। इस युवक का हृदय क्या लौह-निर्मित है !—उसके हाथों के चषक ो अस्वीकार कर देने वाला संभवतः यह अजय, प्रथम युवक था। आँखों में णभर के लिये आवेग की लालिमा झलकी और जब उसने अपने को सुस्थिर किया तो अजय उन्मुक्त हो पास हो पड़ी वीणा के तारों से छेड़-छाड़ करने में निमग्न हो गया था। शिवदत्त चकित भाव से उसकी ओर निहार रहा था। कांचन की भंगिमा में उसे संभवतः कुछ वैचित्र्य झलका था। तभी कांचन ने अपना आँचल एक ओर को झटक दिया। वक्ष-प्रदेश पर उन्नत-उरोजों का मधुर स्पन्दन शिव को पागल कर देने के लिये पर्याप्त था। उसकी भुजाओं ने कांचन को भर जोर अपने से आबद्ध कर लिया तो अजय उत्तेजना से भर उठा। वीणा के कई तार एक साथ ही झनक कर टूट गये। वह उठा और शान्त-भाव से कक्ष के बाहर हो रहा। कांचन ने देखा और उसकी दंत-पंक्तियाँ होष्ठ पर जमक कर रह गयीं।

''आपके ये अजय क्या सचमुच षंड (क्लीव) हैं आर्य शिवदत्त!'' शिवदत्त की बाँहों से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करते हुए उसने पूछा था। शिराओं में झनझनाहट-सी भर गयी थी। शिवदत्त हँस पड़ा था। उसे इस समय की वह हँसी निरर्थक-सी लगी—''ऐसी असभ्यता की आशा किसी षंड ही से की जा सकती है...'' वह आहत नागिन-सी फुफकार रही थी—''ऐसे पुरुष को मेरे केलि-कुंज में ले आने की आवश्यकता ही क्या थी ?...''

''तुम्हीं ने तो कहा था, भूल गयीं !''

उसका दर्प चूर्ण करता हुआ अजय चला ही गया था—चला ही गया था...

अचानक उसकी हथेली कपोल से स्पर्श कर गयी तो चौंक पड़ी। कपोल

आँसुओं से भींग उठा था। चिन्तन-प्रवाह में सुधि ही नहीं थी कि उस
आँखें पिघल कर बह रही हैं!—वह रो रही है!—किससे लिये? अप
विवशता पर, दुर्भाग्य पर या मोह के इंगित पर, ठोकर पर...उसे लगा
जैसे वह तीव्र वेग से घूम रही पृथ्वी की धुरी पर बैठी हो। आँखें कक्ष के इ
अंधकार में विवश थीं ही; अपनी अन्तर्दृष्टि को भी अन्धकार में सिमट
हुआ पाया उसने।

भूगर्भ स्थित कापालिक के साधन-कक्ष में तीव्र गंध वाला कोई धूम्र-पदा
एक लघु-वेदिका पर धधक रहा था। सम्पूर्ण कक्ष में विचित्र-सी घुटन भ
रही थी। कक्ष में इस समय कापालिक एवं महाप्रभु के अतिरिक्त पाँच
तरुणियाँ जो एकदम विवस्त्र थीं हाथों में—माँस, मीन, मदिरा, मूँग आदि तंत्र
सामग्री लिये अविचल भाव से खड़ी थीं। तीन-चार लम्ब-तड़ंग भिक्षु हाथ
में कुठार-त्रिशूल लिये द्वार पर सावधानी से घूम रहे थे। कापालि
पद्मासन में आसीन—'ह्रंग...श्रृंग...क्रुंग...परमेश्वरी, स्वाहा' का मंत्रोच्चारण
करते हुए वेदिका पर धधकती अग्नि में वही धूम्र-पदार्थ डालता जा रहा था।
भयंकर वातावरण उपस्थित हो गया था। अग्नि-वेदिका से थोड़ी दूर हटकर
एक श्यामवर्ण प्रस्तर खंड पड़ा था—यही बलिवेदी थी। उसके नीचे की
ओर एक कुंड-सा बना था, जिसमें जमा हुए रक्त-कीच का कुछ अंश स्पष्ट
दीख रहा था। बलिवेदी से टिकाकर एक तीक्ष्ण खाँडा रखा था, जिसकी धार
घी के वृहताकार दीपकों के प्रकाश में दिप उठती थी।

"गुरुदेव!"

"वसन्तक, मदिरा दे!"

महाप्रभु ने हाथ बढ़ाकर पास खड़ी तरुणी को अपनी ओर खींच लिया
और उसके हाथ से मदिरा-पात्र लेकर गुरु की ओर बढ़ा दिया। महाप्रभु
ने 'तत्-तत्' कहकर मदिरा-पात्र को मुँह से लगा लिया और गट्ट-गट्ट करके
रिक्त कर दिया।

"बलि प्रस्तुत है?"

"हाँ, महाप्रभु !"

"उपस्थित करो !"

महाप्रभु ने इङ्गित किया और द्वार पर खड़ा एक भिक्षु लपककर अन्दर
ाया—"बलि प्रस्तुत करो !" और कुछ ही देर में एक तरुण को जिसका
र्वांग रज्जु-बद्ध था, दो विशालकाय भिक्षु उठाये आ रहे थे। बेचारा पीड़ा से
टपटा रहा था।

उसे गट्ठर की तरह पटक कर वे चले गये।

"वसन्तक, इसे पवित्र करो !"

महाप्रभु ने उठकर उस 'बलि-पशु' को उठाकर बिठा दिया और—
"उठ कर बैठ रे !" बोले।

बेचारे ने आँखें खोलीं और विस्फारित दृष्टि से आस-पास के वातावरण को
खा। बड़ी कठिनाई से उसके मुख से चीत्कार की एक हलकी-ध्वनि
नकल गयी।

महाप्रभु ने कच्चा मांस लेकर उसके सामने कर दिया—"ले, ग्रहण कर..."

"नहीं !"

"ग्रहण कर !"

"नहीं !" इस बार स्वर दबा हुआ-सा लगा। महाप्रभु के तीसरी बार कहने
र उसने चुपचाप उसे लेकर मुँह में रख लिया। कापालिक ने मंत्रोच्चारण
रते हुए उसपर मूँग के कुछ दाने फेंके। वह मंत्र-मुग्ध-सा झूमने लगा।

"वसन्तक, बन्धन-मुक्त कर दो बलि को !" कापालिक का आदेश पाते ही
हाप्रभु मशीनवत् कार्य सपादित करते जा रहे थे। बलि-वेदी के ठीक सामने
क वृहत् योनि-रेखा खिंची हुई थी। कापालिक का आदेश पाते ही वह निरीह
लि-पशु उसी योनि-रेखा पर बिठा दिया गया।

"वारुणी !" कापालिक मेघ-गर्जन सदृश स्वर में गरजा—तरुणियाँ
त्क्षण आगे बढ़ीं और तब वारुणी की जैसे धारा बह चली।*

International Journal of Tantric Order

पूर्णा

अजय को लुप्त हुए सात दिवस व्यतीत हो चुके थे। पूर्णा से विदा और शीघ्र आने का वचन देकर वह संस्थागार-गोष्ठी में सम्मिलत होने के निमि रथारूढ़ हुआ था। पूर्णा द्वार तक साथ ही आयी थी। पूर्णा को महाप्रभु द्वारा दी गयी चेतावनी विकल किये दे रही थी। परन्तु अजय ने उस कोई ध्यान ही न दिया था। उसी समय से वह बारम्बार महाप्रभु की चेताव से सावधान रहने के निमित्त अजय को समझा रही थी परन्तु वह अल्हड़-तरु जैसे उस ओर से एकदम निर्द्वन्द्व हो गया था। उसे विकल पा वह हँ पड़ता—"अपने मन को सुस्थिर करो शुभे ! हाथ में असि रहते..."

"ओह, तुम तो बस...उन मायावियों की शक्ति के समक्ष तुम्हारी शक्ति नगण्य है अजय, इसे समझ कर भी इस तरह का दुस्साहस करते हो..."

"अच्छा, सावधान रहूँगा, बस न !"

"नहीं, तुम मत जाओ...अपने विचार किसी के द्वारा संस्थागार-सदस्य तक पहुँचवा दो...जाने क्यों मेरे मन में हो रहा है कि..."

"पगली हो तुम !"

और वह नहीं ही माना। तीन-चार दिनों के निकट साहचर्य में उ अजय ने, उसकी बाल-सुलभ चपलता ने मुग्ध कर लिया था। वह थ तो पचीस-छब्बीस का पूर्ण युवा परन्तु उसकी निर्द्वन्द्वता किसी बालक से अधिक ही थी। रात दोनों एक ही कक्षा में शयन करते रहे अचानक ही उसकी निद्रा खुल गयी तो अजय को अपने पर्यंक पर निद्रावस्था मे

लोल कौशल्या जैन

कसी से वार्तारत पाया। औत्सुक्यावेग से वह उठ बैठी और उसके पर्यंक समीप खड़ी होकर सुनने का प्रयत्न करने लगी। स्वर यद्यपि स्पष्ट न था थापि उसने कथन का अर्थ लगा ही लिया। जाग्रतावस्था में एकदम निर्द्वन्द्व हने वाला अजय, सुप्तावस्था में स्वयं उसी की चिन्तना कर रहा था। आह्लाद उसका हृदय भर आया। वह कह रहा था—"पूर्णा, तुम नारी हो... ौर मैं नारी से सदैव जाने क्यों एक दबी हुई-सी घृणा करता रहा हूँ। इन ब के होते हुए भी मैं अनेक नारियों के सम्पर्क में आया...परन्तु वह सम्पर्क—ुम्हारे सम्पर्क-सा नहीं रहा...लग रहा है, तुम्हारे बिना मैं अधूरा हूँ...मुझे ूर्ण कर दो...पूर्ण कर सकोगी, तुम पूर्णा..." वह और खड़ी न रह पायी। ुपचाप अपने पर्यंक पर पड़ रही। मन में आह्लाद समा नहीं पा रहा था। ाराणसी में 'रूपा-जीवा' थी और आज—वैशाली के सबसे बड़े धनिक की प्रिय-पात्र बनने जा रही है। इससे बढ़कर उसका सौभाग्य होगा भी क्या? अजय-सा प्रियतम पाकर संसार की कोई भी नारी अपने को भाग्यशालिनी ानती! वाराणसी की गणिकाओं में लावण्य की दृष्टि से उसकी तुलना नहीं ो पाती थी परन्तु अपने उस जीवन से वह संतुष्ट नहीं थी। नारीत्व की निधि, विक्रय का साधन बने—उसे सदैव सालता रहता। वाराणसी एवं मगध-नरेश बिम्बसार का निकट सम्बन्ध था। उसकी माता बिम्बसार की पत्नी की प्रियपात्र रह चुकी थी। गणिका होते हुए भी वह मगध-राज-महिषी को कभी निन्द्य नहीं लगी। कोसल-नरेश की भगिनी होने के कारण दोनों का सम्बन्ध बहुत पुराना था। कोसल नरेश प्रसेनजित के अधिकार में ही वाराणसी थी—इसलिए कोसल, वाराणसी एवं मगध की शृंखला जुड़ी ही रही। वाराणसी में हर क्षण जब उसे घुँटने देने लगी तो वह एक दिन देशाटन के निमित्त चल पड़ी। वाराणसी में उसका एक अनुज और एक बहन भर रह गयी। अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उन्हीं दोनों को सौंप, जब वह चलने लगी तो दोनों घबरा उठे; परन्तु उन्हें निश्चिन्त रहने का ढाँढस और अपने शीघ्र लौट आने की सान्त्वना देकर वह निकल पड़ी। चारो ओर घूमती हुई वह जब मगध पहुँची तो वाराणसी छोड़े चौदह मास से ऊपर

हो रहे थे ! यात्रा से उसको अपूर्व मानसिक तोष मिला । अपने वास्तविक
को आशंकाप्रद देख उसने पुरुष वेश धारण कर लिया । वह इस कला
इतनी पटु थी कि पुरुष-वेश में देखकर किसी को पता लगा पाना असंभव था
अपने को हर स्थान पर वाराणसी निवासी श्रेष्ठि का परिचय दिया उसने । मग
और कोसल में कई मास बिताकर वह वज्जी-संघ की राजधानी वैशाली आयी
यहाँ आने का उसका एक ध्येय यह भी था कि सुख्याति गणिका अम्बपाल
उसकी परिचिता थी । एकबार अपनी यात्रा में वह वाराणसी आयी थी त
उसी का आतिथ्य स्वीकार किया था । उसने अम्बपाली के रूप-लावण्य
सम्बन्ध में बहुत कुछ सुन रखा था परन्तु साक्षात् होने पर, वह सब कुछ नह
मिला जिसकी उसने कल्पना कर रखी थी । वह स्वयं रूप-गर्विता थी । स्यात
इसीलिये उसे अम्बपाली की रूप-श्री वैसी महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुई । वैसे उसके
स्वाभाविक सारल्य पर वह मुग्ध हुए बिना नहीं रही । भगवान् तथागत् की
दिव्य-वाणी से अनुप्राणित होकर उसके व्यक्तित्व में एक विचित्र-सी पवित्रता
की आभा झलका करती थी । महामौद्गल्यायन और सारिपुत्त की दिव्य-वाणी
से भी उसने अम्बपाली के लिये प्रशंसा के वाक्य सुने थे । वैशाली में वह
अधिक दिनों तक रुकना चाहती थी । यह भी सोचा था, अगर संभव हुआ तो
पुनः वाराणसी जायेगी ही नहीं । वैशाली में प्रवेश करते समय भी वह पुरुष
वेश-भूषा में थी । समुचित सन्देह-निवारण के बाद जब उसने वैशाली में प्रवेश
किया तो उसकी आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो उठीं । मर्त्यलोक में इतना
शान्तिमय एवं वैभव-सम्पन्न कोई नगर संभवतः वैशाली के अतिरिक्त अन्य
कोई नहीं—ऐसा भान हुआ उसे । पता लगाने पर तत्क्षण विदित हो गया
कि अम्बपाली इस समय वैशाली में उपस्थित नहीं । अपने लिये आवास की
व्यवस्था किस प्रकार एवं कहाँ करे ?—सोचकर उसकी सम्पूर्ण योजनाओं
पर जैसे सुशुद्ध गंगा-जल पड़ गया । इसी सोच में वह एक वीथिका के समक्ष
खड़ी थी—नगर में प्रवेश करने के उपरांत अब तक ऐसा कोई नहीं मिला,
जिसने एक सर्वथा अपरिचित को देखकर, उसके सम्बन्ध में शंका-समाधान करने

निमित्त उत्सुक हुआ हो—अचानक वीथिका से एक युवक अपने आप में डूबा हुआ-सा निकला। दोनों ही अपने आप में डूबे थे सो टकरा गये। क्षण तो अपने आपको गिरने से बचा लिया परन्तु वह तो गिरने-गिरने हो गयी।

"ओह, क्षमा करें!"

"कोई बात नहीं..."

अजय चलता-चलता सहसा ठमक गया और ऐसे ही पूछ लिया—"आपका परिचय, बन्धुवर!—"

"मुझे पूर्णजित् कहते हैं, वैशाली-दर्शन के निमित्त आया था..."

"आपके साक्षात से मुझे अपार प्रसन्नता हुई..." पूर्णा को लगा कि बाह्यरूप में इतना गंभीर दीखनेवाला यह तरुण वस्तुतः अंतःकरण से अत्यन्त सरल-तरल है। वह भी उसके साथ ही आगे बढ़ने लगी थी।

"बन्धु पूर्णजित्, आपके वैशाली पधारने का ध्येय क्या भ्रमण ही है?..."

"नहीं!"

"तब?"

"ऐसे ही, यहाँ रहकर मन को शान्ति देना चाहता हूँ। सारे देश के भ्रमण में जो नहीं मिला वह आपकी इस देव-नगरी में कुछ ही क्षणों में मिल गया... बन्धु अजय, निस्सन्देह आपकी यह वैशाली स्वर्गिक-सुषमा से ओत-प्रोत है। आप कितने सौभाग्यशाली हैं, जो इस पुण्य-नगरी की गोद में..."

दोनों एक प्रमुख चतुष्पथ पर आ गये थे। क्षण प्रतिक्षण पूर्णा को अनुभव होता जा रहा था कि अजय में किसी को भी अपनी ओर आकर्षित करने का असाधारण वैशिष्ट्य है...बात ही बात में अजय ने अपना भी परिचय दे दिया था।

"बन्धुवर अजय, आपने अभी अपने आवास के निमित्त कोई स्थान निश्चित नहीं किया है?"

"नहीं!"

"तब..."

"कहीं भी हो जायगा...इस पुण्य-नगरी का कोई भी कोना मेरे लि
अपूर्व होगा..."

"एक निवेदन...अगर कुछ अन्यथा..."

पूर्णा का हृदय तीव्र वेग से धड़क उठा, यह सोचकर कि वह कहना क्य
चाहता है ?

"आपको मेरे आवास पर कोई कष्ट तो नहीं होगा ?"

पूर्णा सहसा उसके इस आमंत्रण से अचकचा गयी।

"पर..."

"कोई असुविधा हो तो मैं अपने शब्द लौटा लेता हूँ !"

"नहीं-नहीं बन्धु अजय, मेरा तात्पर्य था कि एक अपरिचित को इतन
अपनत्व दे देना..."

"लिच्छिवि-धर्म है बन्धुवर !"

"ओह !"

"आप हमारे सजातीय हैं; इसलिये भी संभवतः मेरे निवेदन पर सहृदयता
से सोचना चाहिये; मेरी समझ से तो आपको इस पर अधिक कुछ सोचना ही
नहीं चाहिये। अपने अतिथियों के लिये लिच्छिवियों का हृदय-कपाट सदैव
खुला रहता है..."

"मैं इससे अपरिचित नहीं बन्धु अजय !" पूर्णा को लगा कि उसका अन्तः-
करण पुलकावेग से सिहर-सा उठा हो—"आपका साहचर्य पाकर मैं अपने को
सौभाग्यशाली समझूँगा..." अजय ने स्नेहावेग से उसका हाथ पकड़ लिया
और मधुर-ढंग से दबाया।

सहसा किसी ने द्वार पर से पुकारा—"वत्स पूर्ण !" स्मृतियों की
शृंखला झटका खा उठी। अपने भूत के उन मधुमय-चित्रों में वह खो-सी
गयी थी। हड़बड़ा कर उठी। द्वारा पर अजय के वृद्ध पिता खड़े थे।

"मेरा अजय क्या अब कभी न आयेगा वत्स पूर्ण !" वृद्ध का अन्सर अश्र-

प्लावित था—"वह किसी संकट में पड़ गया है...देखो...देखो..." और वे उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये डगमग-पग आगे बढ़ गये। पूर्णा का हृदय हाहाकार कर उठा। बीते हुए सात दिवस उसके कैसे रहे हैं?—वही जानती है। संस्थागार-गोष्ठी में उस दिन नहीं पहुँच पाने के कारण अजय को लेकर आतंक-सा छा गया। वज्जी-संघ मगधराज के दुराग्रह से ऐसे ही व्यस्त था, इस नवीन-संकट ने तो उसे विह्वल ही बना दिया। सात-आठ-मास के भीतर वैशाली के अनेक संभ्रात नर-नारी अपहृत कर लिये गये थे और वज्जी-संघ के गुप्तचरों, सैनिकों की सतत सतर्कता ने भी रहस्य-भेदन में सफलता नहीं पायी थी। इन दुर्घटनाओं के आवरण में कोई ऐसी शक्ति अवश्य कार्य-रत है, जिसकी शक्ति निस्संदेह मनुष्येतर है!—यह विचार जन-जीवन में दिन प्रति दिन जड़ पकड़ता जा रहा था। मगध का निष्क्रमणार्थी महामात्य वर्षकार के वैशाली आ पहुँचने से जन-जीवन में एक ऐसी अग्नि अन्दर ही अन्दर प्रज्वलित हो रही थी, जिसका आभास किसी को भी न था। वैसे उसका आभास पाने वालों की, संख्या यद्यपि अल्प थी तथापि जो थी उनमें गंभीरता की मात्रा पर्याप्त थी।

पूर्णा अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पा रही थी। अजय से वामाचारियों के मठ सम्बन्धी, जितने तथ्य उसे ज्ञात हुए थे, उसे अगर वह किसी पर प्रकट भी करती है तो एक सर्वथा अपरिचित विदेशी पर विश्वास ही कौन करेगा? भगवान् तथागत के लिये वैशाली का जन-जीवन इतने गहरे तक श्रद्धालु हो रहा था कि एक प्रतिष्ठित बौद्ध-विहार के विरुद्ध इतना घृणित आरोप लगाने का साहस ही उसे नहीं होता था। अजय उसी 'महाप्रभु' के पंजे में पड़ गया है, इस पर पूर्णा को दृढ़ विश्वास था परन्तु...

द्वार पर खटका हुआ। दृष्टि उठाकर देखा तो सामने एक परिचारिका खड़ी थी—विनम्र-भाव से—"क्या है?" उसने संकेत से पूछा।

"भन्ते आपसे श्रेष्ठिपुत्र शिवदत्त साक्षात् के निमित्त उपस्थित हैं!"

वह चौंक पड़ी। शिवदत्त का नाम वह अजय के मुख से अनेक बार सुन

चुकी थी। वह अजय का अभिन्न मित्र है, यह भी उसे अविदित न था उसके आने का तात्पर्य क्या हो सकता है ?—समझ नहीं पा रही थी वह

"उन्हें गृहपति के समक्ष प्रस्तुत करो..."

"पर भन्ते, वे आप से ही एकान्त-साक्षात् करने को उत्सुक हैं। आज्ञा..."

वह कुछ क्षण विचार-मग्न बैठी रही; फिर—"उन्हें ले आओ..."

अभिवादन के पश्चात् परिचारिका चली गयी। दूसरे ही क्षण शिवदत्त प्रवेश किया—"मैंने असमय में उपस्थित होकर आपको कष्ट तो नहीं दिया ?

वह उठ पड़ी। अपने को यथासंभव सुस्थिर रखते हुए स्वागत किया— "आपसे अपरिचित होते हुए भी मैं परिचित हूँ बन्धु शिवदत्त...बन् अजय के मित्र से मुझे कष्ट होगा, ऐसा आपको सोचना भी नहीं चाहिये.. आइये, आसन ग्रहण करें..."

शिवदत्त चुपचाप आकर एक स्वर्ण-पीठिका पर बैठ गया। उसकी मुख मुद्रा अत्यन्त गंभीर थी—"आपका शुभ नाम संभवतः पूर्णजित् है ? मैं भूल तो नहीं कर रहा हूँ ?"

"नहीं, आप यथार्थ कह रहे हैं बन्धुवर !" पूर्णा ने एक सतर्क दृष्टि अपनी वेश-भूषा पर डाली। कहीं कोई त्रुटि नहीं लक्षित हुई तो वह सुस्थिर चित्त हो, पास की एक दूसरी पीठिका पर बैठ गयी—"बन्धु अजय का सहसा लुप्त हो जाना हमारे लिये अत्यन्त चिन्ता का विषय बना हुआ है बन्धुवर !— अपहरण की इन दुर्घटनाओं के मूल पर आपने कभी विचार किया है ?"

"हूँ !"

"क्या ?..."

शिवदत्त ने एक दीर्घ निश्वास लिया और उसकी दृष्टि पूर्णा की ओर स्थिर हो गयी—"आपको संभवतः इस संबंध में मुझसे कुछ अधिक ही विदित होगा ?" उसका यह प्रश्न इतना आकस्मिक था कि पूर्णा क्षण भर के लिये

अस्थिर-सी हो गयी। शिवदत्त को उस पर सन्देह तो नहीं हो रहा है ?—यह शंका उसके मन में विद्युत गति से कौंधी—"आपके इस विचार का कारण ?"

शिवदत्त के होठों पर स्मिति छलक उठी—"आप बहुत अस्थिर हो उठे हैं, मेरे इस प्रश्न से वेश-परिवर्त्तन में इतनी दक्ष होते हुए आपकी त्रुटि..."

"बन्धुवर !"

"मुझसे कुछ भी छिपा नहीं है शुभे पूर्णा !" शिवदत्त ने मृदु-स्वर में कहा—"मुझसे आपको शंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं। अजय के लुप्त होने में जिस दानवी-शक्ति का हाथ है, उसका भास सबसे प्रथम मुझे ही हुआ था। मैं और अजय इस ओर अत्यन्त गुप्त रूप से पता लगा रहे थे परन्तु दुस्साहस में पड़कर अजय ने अपने को अनायास ही संकट में डाल लिया। आपका रहस्य मुझ पर कैसे प्रकट हो गया ?—इसे जानने के लिये आप व्यग्र हो रही हैं—अजय और मैं—मैं और अजय—हम दोनों में कोई भेद नहीं इसे आप सदैव स्मरण रखें..."

"तो क्या स्वयं अजय ने..."

"नहीं !"

"तब ?" उसका स्वर कम्पित था—"मैं सचमुच व्यग्र हो रही हूँ..."

"उसकी कोई आवश्यकता नहीं। अजय की इस अट्टालिका का कोई रहस्य मुझ पर अप्रकट नहीं रह सकता। हम दोनों ने एक साथ ही इसी अट्टालिका में शिशु-किल्लोल किया—हमारी कैशोर्यगत चपलता का अनुभव भी इसी अट्टालिका ने अनुभव किया और अब...अस्तु, हमारी परिस्थिति इस समय अत्यन्त संकटापन्न हो उठी है। अजय के लुप्त होने के बाद से ही मैं अन्वेषण में लग गया था। और आपको यह जानकर संभवतः अपार आश्चर्य होगा कि इस समय मैं अजय से भेंट करके आ रहा हूँ..." इतना सब शिवदत्त एक ही साँस में कह गया।

सुनकर पूर्णा सचमुच विह्वल हो उठी—"आप...आप...अजय से साक्षात

करके आ रहे हैं। उसके प्राणों पर कोई संकट तो नहीं ..कहाँ है वह ?.. कैसे है ?...”

“आप शान्त रहें शुभे !”

“वह उन्हीं कापालिकों के उस नरक में है ?”

“हूँ !”

“आप उसे लेते क्यों नहीं आये ?”

“संभव नहीं था शुभे !” शिवदत्त का स्वर अत्यन्त गंभीर हो उठा—“अपने प्राण देकर भी ऐसा कर पाता तो कभी...उन नर-पिशाचों के पंजों से उसे अविलम्ब निकालना अत्यावश्यक है, नहीं तो अनर्थ की सम्भावना है। उन दुष्टों की दृष्टि आप पर भी लगी है। आपने सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता यह की कि इसी बीच अट्टालिका के बाहर पैर नहीं रखा...उस रक्त-रंजित बौद्ध-विहार में ऐसे कुकृत्य का संचालन हो रहा है, इस पर कोई विश्वास करने को तत्पर नहीं होगा। भगवान् तथागत की पावन-वाणी...ओह !—उनके जीवन-काल में ही जब ऐसा अनर्थ हो रहा है तो...मैं चलूँगा अब...” कहते हुए वह उठ पड़ा—“संस्थागार में इस पर विचार-विमर्ष करना है और एक ही दो दिनों के भीतर जैसे भी हो, उस पंथ-भ्रष्ट कापालिक को उच्छिन्न करने की...परन्तु सबसे बड़ी असुविधा जो सामने है वह—उस पवित्र संघाराम में इस दानवी-नाटिका का होना...संस्थागार-सदस्यों को इस पर विश्वास दिला पाना संभव नहीं शुभे। फिर भी हमें निराश नहीं होना है...”

“मुझे भी अपने साथ ले चलें !” उसे जाता देख-पूर्णा उठकर खड़ी हो गयी—“विश्वास रखें आप के मार्ग में मैं बाधा नहीं बनूँगी—अजय के लिये मैं कुछ कर सकूँ—मेरे जीवन की इस साध को आप ठुकरायें नहीं !” शिवदत्त के उठे हुए पग स्थिर हो गये। कर्त्तव्य कहता था—पूर्णा का साथ रहना असुविधा-जनक होगा और मन उसकी विह्वल-करुणा की आँच से पिघल उठता था।

“आप संशय में नहीं पड़ें !”

"शुभे मुझे धर्म-संकट में न डालें !"

"आप विश्वास नहीं कर रहे हैं...जब मैं देखूँगी कि आपके मार्ग में बाधा बन रही हूँ तो वहीं अपना प्राणोत्सर्ग कर दूँगी..." उसके स्वर में करुणा, दृढ़ता एवं पीड़ा का योग, शिवदत्त को रोमांच से भर गया।

"शुभे, पूर्णा !"

उसकी आँखों से दो बूँदें ढुलक कर शिवदत्त के पैरों के पास गिरकर बिखर गयीं—"आप इस तरह विह्वल हो उठेंगी तो मैं कुछ भी कर पाने में असमर्थ हो जाऊँगा। आपको इसे भूलना नहीं चाहिये कि हमारा एक-एक क्षण मूल्यवान है। अजय को छोड़े मुझे तीन-चार दंडों हो रहे हैं और इन तीन-चार दंड में उस पर कौन-सा संकट आया होगा। इसकी कल्पना मात्र से रोमांच हो आता है।"

"तो आप जाँय..."

"पर..."

"मेरी चिन्ता न करें..."

पूर्णा की छलकती आँखों की ओर देख पाना शिवदत्त के लिये नितांत असंभव प्रतीत हो रहा था और एक-एक क्षण, उसे एक-एक युग-सा लग रहा था। वह बिना कुछ बोले शीघ्रता से बाहर निकल गया। पूर्णा मूर्ति-सी खड़ी-खड़ी निहारती रही...

वैशाली

वैशाली का जन-जीवन अपने आप में परिवर्त्तन अनुभव कर रहा था। वैशाली में दिन भर होता जन-रव, जैसे भविष्यत् का भास कर काँपता हुआ-सा प्रतीत होता। उसमें वह ओज न था, जिसकी ओर संसार लुब्ध दृष्टि से देखता था। एक दूसरे की ओर सभी शंकालु-दृष्टि से देखने लगे थे। संस्थागार की बैठकें दिन-दिन भर चलती रहती परन्तु समस्या का समाधान खोजे न मिल पाता। एक दबा-दबा आतंक चारों ओर व्याप्त हो गया था।

वर्षकार का अब तक संस्थागार-सदस्यों और प्रतिष्ठित नागरिकों में पर्याप्त सम्मान हो गया था। उसकी कूटनीति के विषैले प्रवाह ने देखते ही देखते सरल-चित्त लिच्छवियों के पावन-हृदय को दूषित करना आरंभ कर दिया। गण्यमान्य नागरिकों के आदर का पात्र वह था ही। इनकी बात उनसे और उनकी इनसे कुछ इस कौशल से पहुँचाने लगा कि बेचारे लिच्छवि कुछ समझ ही नहीं पाते। सभी अपने को महान्, सम्पत्तिवान और परोपकारी समझने लगे। दूसरे उनकी दृष्टि में तुच्छ और हेय दीखने लगे। वर्षकार के षड्यंत्र की सूक्तियाँ छिटक-छिटक कर, लिच्छवियों के पारस्परिक सौहार्द-भाव पर आघात कर रही थी—वैशाली के जन-जीवन में उसने एक ऐसा स्फोट ला दिया था, जिसके अन्तराल में वज्जी-संघ का पतन अवश्यम्भावी एवं स्पष्ट हो उठा था। कुछ समझदार लोगों की दृष्टि तुरत उस षड्यंत्री ब्राह्मण की ओर गयी परन्तु विलम्ब हो चुका था। बाण छूट चुका था, उसका प्रत्यावर्तित होना नितान्त असंभव था। वज्जी-संघ की ओर से वर्षकार को जो भवन अपने व्यक्तिगत उपयोग के निमित्त प्रदत्त किया गया था, उसकी भव्यता का तो पूछना

ही क्या ? एक महामात्य के योग्य जो भी आदर-सम्मान हो सकता था—वर्षकार को मुक्तहस्त हृदय प्राप्त हुआ था। उसका वैशाली आना, इतनी सरलता-शीघ्रता से सार्थक हो रहा था कि उसके उत्साह की सीमा न थी। मगध के गुप्तचरों और उसके बीच सम्बन्ध स्थापित था। उसने संघ के अनेक ख्यातनामा प्रतिष्ठित नागरिकों, राजपुरुषों एवं सैनिक-अधिकारियों को अपनी ओर मिलाना भी आरंभ कर दिया था। जिसकी ओर भी उसकी मायाविन दृष्टि जाती, उसके हृदय में विष की ज्वाला धधक उठती। अपने भवन के एक अन्तःकक्ष में वह एक स्वर्ण पीठिका पर आसीन, कोई पत्र लिख रहा था। द्वार पर तीन-चार दौवारिक हाथों में नग्न कृपाण लिये खड़े थे। इस समय किसी का भी उसके एकांत में बाधा उपस्थित करना वर्जित था।

सहसा एक दौवारिक ने भीतर झाँका—"अन्नदाता !"

"क्या है ?" उसकी भृकुटि वक्र हो आयी—"क्या चाहता है ?"

"अन्नदाता, श्रीमान् उपनयन आपसे साक्षात् के निमित्त प्रस्तुत हुए हैं। क्या आज्ञा होती है ?"

उपनयन वज्जी-संघ के कोश-विभाग में उच्चपदस्थ कर्मचारी था। वर्षकार के बहुत प्रयत्न करने पर भी उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। आज सहसा उसे अपने पास उपस्थित देख, वह संतुष्ट-सा हो आया।

"उन्हें सादर बिठाओ, मैं तुरत आ रहा हूँ !" और वह अत्यन्त शीघ्रता से पत्र समाप्त करने में लग गया।

और जब उसने भवन के अतिथि-कक्ष में प्रवेश किया तो—"भन्ते, आप...मुझ तुच्छ की कुटिया आज पवित्र हो गयी..."

उपनयन वयोवृद्ध था। वैशाली के जन-जीवन पर उसका बहुत गहरा प्रभाव था। उसने उठकर वर्षकार का अभिवादन किया—"आवुस, मैं आजकल बड़े संकट में पड़ गया हूँ..."

"संकट...वह क्या भन्ते !" वर्षकार उन्हीं के पास वाली दूसरी पीठिका

पर बैठता हुआ चिन्ता के भाव से बोला—"मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आप संकोच नहीं करें ?"

"इसीलिये तो आया हूँ..." कहते-कहते वृद्ध की आँखों में आँसू भर आये।

"भन्ते, मैं आपके क्या काम आ सकता हूँ। मुझसे आपका किंचित भी लाभ हो सके यह मेरे लिये सौभाग्य की बात होगी। आप रञ्चमात्र भी संकोच न करें। आपको मैं वैशाली के श्रद्धेय लोगों में अग्रगण्य मानता मानता हूँ, इसका अनुभव संभवतः आपको नहीं होगा ?..." उस गंभीर किन्तु मधुर स्वर में कहा और धीरे से अपनी पीठिका खिसका कर उनके एकदम निकट हो रहा—"भन्ते, आपको कोई असुविधा हो रही है। मुझ पर आपका विश्वास नहीं—यह मेरा दुर्भाग्य है वृद्ध श्रेष्ठ !—आपकी वैशाली ने मुझे आपत्तकाल में शरण दिया, अपने हृदय का निर्मल स्नेह दिया है और मैं उसके आधार-स्तंभों के किसी विश्वास के योग नहीं, इसे दुर्भाग्य के अतिरिक्त और कहा भी क्या जा सकता है मान्यवर !"

"नहीं-नहीं, वर्षकार !"

"आपकी इस महानता का मैं कृतज्ञ हूँ भन्ते ! परन्तु आपके व्यवहार में अपने प्रति जो हिचक, जो आशंका देख रहा हूँ, उससे आन्तरिक परिताप हो रहा है। आप मुझसे कोई सेवा लेना चाहकर भी नहीं ले रहे हैं और इसका एकमात्र कारण है मेरी ओर..."

"नहीं वर्षकार, मैं आज जिस समस्या को लेकर तुम तक आया हूँ, वह मेरे लिये इतनी भयंकर है कि...वर्षकार, तुम ठीक कहते थे कि मेरी वृद्धावस्था को अपमानित करने के निमित्त है..."

वर्षकार मन ही मन प्रसन्नता से भर उठा—अन्त में यह चंट वृद्ध भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रहा !

वृद्ध कहने लगा—"अपनी पुत्र-वधू के चरित्र पर मुझे अनेक दिनों से

शंकालु हो उठना पड़ा है वर्षकार ! मेरे भोले-भाले पुत्र को मदिरा और रूपाजियों' के चक्कर में डालकर वे...''

''कौन ?''

''वही दोनों राज-पुत्र, शशांक एक कुमार—मुझे कलंकित करना चाह रहे हैं। इन दोनों की ओर तुमने अनेक बार मेरा ध्यान भी आकृष्ट किया था परन्तु मुझे तुम्हारी शंका प्रलाप से अधिक और कुछ न लगी, इधर मेरा पुत्र उनकी ओर, उनकी भ्रष्ट मनोवृत्ति की ओर बेतरह उन्मुख हो उठा है। तुम इस सम्बन्ध में मेरी कुछ सहायता कर सकते हो ?''

वर्षकार ने गंभीर भाव से कुछ सोचने का नाट्य किया—''मुझे आपने इस योग्य समझा भन्ते !''

''तभी तो आया हूँ आवुस !''

''तो फिर आज्ञा कीजिये !''

''तुम उनका क्या प्रबंध करोगे ?...''

''मरण-व्यवस्था...''

''मरण !'' वृद्ध चौंक पड़ा—''तो क्या तुम उनकी हत्या करवा दोगे ?''

''इसमें हानि क्या है ?''

''ओह, नहीं !''

''आपको मैंने, मेरे किसी व्यवहार ने परिताप पहुँचाया, इसके लिये मुझे आन्तरिक खेद है परन्तु इसमें मैं कोई दोष नहीं मानता। प्रतिष्ठा, मर्यादा को मैं सर्वोपरि मानता हूँ। मनुष्य को इसे कभी नहीं भूलना चाहिये कि...''

वृद्ध घबरा-सा गया था—''परन्तु हिंसा में मेरी कोई आस्था नहीं...''

''न सही...''

''तब ?''

''उसे तो मैं सम्पन्न करूँगा न ! आपके लिये क्या मैं इतना भी नहीं कर सकूँगा भन्ते !'' उसकी गहरी दृष्टि से यह अस्पष्ट नहीं रहा कि क्रमशः वृद्ध उसकी वाक्चातुरी से प्रभावित होता जा रहा है !

"क्या इसके—मेरा तात्पर्य हिंसा के बिना, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता वर्षकार ! मैं भगवान् महावीर का..."

"ओह, तभी मैं देख रहा था कि हत्या के नाममात्र से आप रोमांचित हो उठे थे..." वर्षकार ने तुरत ही अपने को परिवर्तित कर लिया। महावीर के शान्ति एवं अहिंसावाद से प्रभावित इस वृद्ध को हत्या के नाम पर, अपनी ओर स्थायी रूप में उन्मुख नहीं कर पायेगा। उसका स्वर देखते ही देखते असाधारण रूप में गंभीर हो गया—"तब आप मुझे अपना मन्तव्य स्पष्ट करें..."

अब तक वृद्ध सम्हल चुका था—"उन दोनों को किसी तरह वैशाली छोड़ देने को विवश कर दो। बस, मेरा कार्य सम्पन्न हो जायगा !—उनके उपस्थित रहते, मेरा पुत्र कभी सम्हल नहीं पायेगा; तुमने उसे देखा तो है ?"

"ठीक है, अब आप निश्चिन्त रहें परन्तु देखिये, मुझसे आपने क्या ठीक किया या क्या बातें हुई यह सब किसी भी व्यक्ति को विदित नहीं होनी चाहिये। इससे आपके कार्य में बाधा तो पड़ेगी ही मुझपर भी संकट की संभावना हो सकती है। एक विदेशी अतिथि का अपनी आन्तरिक समस्याओं में पैर अड़ाना, कोई भी लिच्छवी स्वीकार नहीं करेगा। मेरे भाग्य वैसे ही...आप समझ रहे हैं तो..." वृद्ध गद्गद् कंठ से उसे अनेक आशीर्वाद देता हुआ उठ पड़ा और काँपते पैरों से चला गया। वर्षकार के होष्ठों पर एक कुटिल मुस्कान छायी हुई थी। वह दिन दूर नहीं, जब वैशाली के पत्ते तक उसके संकेत पर हिलेंगे। अपने एक अत्यन्त विश्वासी भृत्य को बुलाकर उसने कहा—"देश से कोई संवाद है ?"

"नहीं, अन्नदाता !..." भृत्य ने करबद्ध होकर कहा—"अपने एक विश्वासी गुप्तचर ने संवाद दिया है कि—वाराणसी का वह कापालिक-गुरु भद्र, आजकल वैशाली में है और इधर जो अपहरण की दुर्घटनायें हुई हैं, उसमें उसका ही हाथ है। यहाँ के किसी बौद्ध-विहार में उसने अपना साधना-केन्द्र स्थापित किया है। अनेक बौद्ध-श्रमण भी उसके अनुयायी हो गये हैं। वैशाली के सुख्यात श्रेष्ठि-पुत्र अजयसेन आदि..."

"मुझे विदित है, अब तुम जा सकते हो..." उसकी झटकार से बेचारा निराश हो गया। फिर भी उसे खड़ा देख, वर्षकार तीव्र स्वर में बोला—"तुम्हें और कुछ निवेदन कहना है ?"

"नहीं, अन्नदाता !"

"तब जाओ !"

वह बिना कुछ बोले चला गया।

वर्षकार उठकर पुनः अपने अन्तःकक्ष में आया।

बलि-पशु

कांचन को तन-बदन की सुध न थी। उस दिन के बाद, उसे अजय का कोई संवाद नहीं मिल पाया था। उससे पुनः साक्षात् हो सकेगा कोई आशा न थी। अनेक बार वह द्वार में लगे लौह शलाकाओं पर मस्तक मारकर आत्महत्या की चेष्टा कर चुकी है परन्तु हुआ इतना ही कि मस्तक लहू-लुहान होकर और पीड़ा देने लगा। संभवतः चौबीस दंड में एक बार अत्यल्प एवं निकृष्टतम भोजन देने की व्यवस्था थी। कभी-कभी तो मात्र कच्चा मांस ही आता था। इधर कई दिनों से उसने भोजन भी लेना बन्द कर दिया था। उसे अब जीने का कोई साध न थी। जिसकी कोई आशा ही न शेष हो, उसकी साध होती भी क्यों कर ? उसमें अब उठने की भी शक्ति नहीं रह गयी थी। एक किनारे पड़ी-पड़ी वह सोच रही थी—उसकी ओर से ये नर-पिचाश जाने क्यों उदासीन हो गये हैं...सुना है, साधन-विधि में बलि की तो आवश्यकता पड़ती ही है—उसको भी ले चलकर क्यों नहीं...

अचानक द्वार पर से किसी ने धीरे से पुकारा—"कांचन हो क्या ?" सुनकर उसके प्राणों में जैसे नवजीवन लहरा उठा। उठने की चेष्टा की परन्तु दुर्बलता ने विवश कर दिया। बोलने का प्रयत्न किया परन्तु लगा कि जैसे कंठ सूखकर मरुभूमि हो गया है। अपने आप में ही वह छटपटा उठी।

"कांचन...कांचन..."

अरे—हे भगवान ! अब तो उसके कर्ण प्रदेश भी व्यर्थ हो चले ! वह सुन नहीं सकती, बोल नहीं सकती। बुलाने वाले से उसकी यह विवशता छिपी न रही। अपने कपड़ों के अन्दर से सामग्री निकालकर उसने प्रकाश किया तो कांचन ने धुँधली दृष्टि से देखा—अपना संपूर्ण शरीर एक लंबे-चौड़े वस्त्र में छिपाये कोई खड़ा है।

"कांचन, कैसी हो ?"

"कौ...न...कौ...न...हो..."

"मुझे पहचान नहीं रही हो कांचन !"

"नहीं..."

"मैं हूँ शिवदत्त !"

कांचन ने संभवतः सुन लिया। उसकी घुँटती साँसों में तीव्रता की एक विद्युत-लहर लहरा उठी। शक्ति की एक आँधी-सी आयी और वह घिसक कर द्वार की ओर बढ़ने लगी।

"शिवदत्त...क्या...आप...आप भी..."

"नहीं, कांचन ! मैं अत्यन्त गुप्त रूप से आया हूँ..."

"अजय...आपने अजय..."

"हाँ !" शिवदत्त ने एक छोटी-सी गोली उसके हाथ पर रख दी—"इसे अभी मुँह में रख लो...अजय जीवित है अभी परन्तु बड़ी चिन्ताजनक अवस्था में...महाप्रभु को हम लोगों ने अपने अधिकार में कर लिया है। अब उस नर-पिशाच कापालिक को—आज उसके 'साधन' की परिसमाप्ति है। अगर हमने शीघ्रता नहीं की तो पुनः कुछ कर पाना नितान्त असंभव हो जायगा...आज

तुम्हारे साथ ही अन्य अपहृत तरुणियों को साधन-कक्ष में दीक्षित किया जायगा...इसके बाद ही सामूहिक रूप में अनेक नर-मुंडों की बलि दी जायगी...तुम घबराना नहीं, मैं वहीं उपस्थित रहूँगा...आज इस रक्त-रंजित घृणित-नाटिका का पटाक्षेप है कांचन, पटाक्षेप...गोली से तुम अपने आप में शक्ति अनुभव करोगी—उसे एकदम निगल जाओ। कोई आ रहा है...मैं चला..." और वह न जाने किस ओर लुप्त हो गया। कांचन ने, गोली मुँह में रख ली और घिसककर पुनः अपने पूर्व स्थान पर पड़ गयी। कुछ ही देर बाद अगल-बगल से चीत्कार की ध्वनि आने लगी। अन्धकार में प्रकाश की स्फुट किरणें, इधर-उधर फिरती दीख रही थीं।

"ले चलो!" यह स्वर महाप्रभु वसन्तक का था। सुनकर कांचन का सारा शरीर सिहर उठा—शिवदत्त के जीवन की भी...क्या वैशाली इन वाम-मार्गियों द्वारा पूर्णतया ध्वस्त होकर रह जायगी!—शिवदत्त के द्वारा जो ईषत् सान्त्वना की प्राप्ति हुई थी, वह आतंक एवं निराशा के गहन अन्धकार में खो गयी...उसके प्राणों में पुनः नरक की रोमांचकारी विभीषिका कर उठी...

अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से देखा—प्रकाश-किरणें उसके निकट आती जा रही हैं। उसकी शिराओं में लहू जम-सा गया। द्वार खोले जाने की खड़खड़ाहट उसने सुनी; फिर भी आँखें कुछ देख नहीं पायीं। उसे लग रहा था कि अब साँस का पक्षी उड़ने ही वाला है, उड़ने ही वाला है...कोई उस पर झुका है—ऐसा भास तो हुआ परन्तु वह कौन है, यह ज्ञात नहीं हो पाया।

"उठ रे!" कर्कश पुकार।

पर वह मौन रही।

"उठ, उठ!..."

फिर वही मौन। किसी बलिष्ठ-भुजाओं ने उसे जोरों से झकझोर दिया है और तब उसकी पलकों में कम्पन भर आता है। निस्पन्द-सी पुतलियों ने बताया है, उस पर झुके हुए स्वयं महाप्रभु वसन्तक हैं! श्मश्रुआच्छादित मुख-मंडल पर विराजती क्रूरता स्पष्ट से स्पष्टतर होती जा रही है—

आह !—लगा है, जैसे वह चीत्कार कर उठी है—महाप्रभु का संकेत पाक दो अनुचरों ने उसके निर्जीव-से शरीर को उठा लिया—वे उसे जाने कह लिये जा रहे हैं, जाने कहाँ...शिवदत्त की गोली ने विद्युतगति से अपन प्रभाव दिखाना आरंभ कर दिया है—इसकी अनुभूति भी उसे मिली अब साँसों में वह घुटन नहीं, मस्तिष्क में शून्य नहीं, शिराओं में जमाव नहीं निष्क्रिय-सी हो रही इन्द्रियाँ झटके के साथ चैतन्य हो रही हैं...आँखों में ज्योति-सी लहराई है...

"पहले इसे ले चलो !" महाप्रभु का कर्कश स्वर उसने स्पष्ट सुना है। नासिका-रंध्रो ने किसी दुर्गन्ध की अनुभूति कराई है।

वह साधन-कक्ष में एक ओर पटक दी गयी है।

उस दिन की अपेक्षा आज कक्ष में विशेष चहल-पहल, विशेष भयंकरता दीख रही है ! वातावरण में विचित्र-सी रहस्यमयता का साम्राज्य है...कांचन की आँखें खुलीं, बन्द हुईं पुनः...

"वसन्तक !"

"गुरुदेव !"

"आज इतने दिनों की हमारी साधना सफल हो रही है...बुद्ध के निकृष्ट उपदेशों में डूबी वैशाली अब शीघ्र ही मुक्त होगी—देवी का वरदान हमें प्राप्त होगा...और..."

"मैं बहुत प्रसन्न हूँ गुरुदेव !"

"गौतम आकर जब देखेगा कि उसके द्वारा प्रस्थापित पवित्र संघाराम देवी...देवी का साधनास्थल बना हुआ है तो...जानता है, उसकी क्या दशा होगी ?..."

महाप्रभु ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"वसन्तक !"

"गुरुदेव !"

"आज देवी के समक्ष सामूहिक बलि देनी है। तू यथासमय आ गया, सुन्दर हुआ...अन्यथा...तेरे पास कितने पशु होंगे ?"

"गुरुदेव सत्रह !"

"ठीक है !" कापालिक का स्वर मदिरापान के अतिरेक से लड़खड़ा रहा था—"आज तेरा भाग्योदय- रे वसन्तक—सम्पूर्ण वज्जी-संघ पर तेरा प्रभुत्व स्थापित हो जायगा...और देख, ऊपर संघाराम में इस समय जितने बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ शेष हैं, उनको या तो अपना मतावलम्बी बनाना है या देवी के चरणों में बलि...मूर्खों का जीवन सुफल हो जायगा..."

"जो आज्ञा गुरुदेव !"

"तेरी इस कांचन की क्या दशा है रे वसन्तक !...आज देवी के समक्ष इसे दीक्षित करूँगा—रूपा-जीवा होते हुए भी इसके लावण्य की सुषमा नष्ट नहीं होने पायी है—हा-हा-हा !"

"महाप्रभु का कथन यथार्थ है !"

कांचन के रोम भरभरा आये।

शिवदत्त ने कहा था, वह पास ही रहेगा—क्या इन नर-पिशाचों के समक्ष वह अकेला कुछ कर पाने में समर्थ होगा ?—नही-नहीं ! उसने नाहक ही वह गोली खायी...शिवदत्त ने उसे नव-जीवन देकर जाने किस दिन का प्रतिशोध लिया है ?–वैसे तो यहाँ आते-आते उसके प्राण पखेरू मुक्त हो गये होते–यह सब देखना तो न होता !—उसने देखा—कक्ष में उसके अतिरिक्त पाँच तरुणियाँ और प्रस्तुत हैं। उसने पहचानने की चेष्टा की परन्तु असफल रही। उन बेचारियों की उससे भी चिन्त्य अवस्था थी। वैशाली के सम्पन्न नागरिकों, राजकों की वे सुकुमार कलिकायें, अपनी उस स्थिति की कभी स्वप्न में कल्पना नहीं कर पायी होंगी। उसकी धड़कनें तीव्रातितीव्र हो उठीं।

"वसन्तक !"

"गुरुदेव !"

"बलि प्रस्तुत कर..."

और इसके उपरान्त वह भयंकर स्वर में मंत्रोच्चारण करता हुआ हवन वेदिका में मांस, मदिरा आदि तंत्र-सामग्रियों का स्वाहा करने लगा। 'ओं.. ह्रंग...श्रृंग...क्लिंग...स्वाहा...' स्वर उठता और वेदिका की अग्नि भभक उठती।

दैत्याकार अनुचरों ने पशुओं की भाँति। तरुणों को रज्जुबद्ध उपस्थित करना आरंभ कर दिया। सभी मृतप्राय हो रहे थे। कांचन ने देखा, उसमें से कितने ही उसके केलि-कुंज की शोभा-वृद्धि कर चुके थे। वहाँ का वह वीभत्स वातावरण देख, कितने तो चीत्कार कर अचेत हो गये। और जब लौह-श्रृंखलाओं में बद्ध अजय को चार-पाँच अनुचर एक साथ पकड़कर ले आये तो कांचन अपने को रोक नहीं पायी। उसके मुख से एक तीव्र चीत्कार निकल गयी।

अजय इस समय पूर्ण शान्त था। मुख-मुद्रा पर उद्वेग की छाया भी नहीं थी। वीर-भाव में वह एक किनारे खड़ा हो गया। कांचन की चीत्कार पर उसने एक बार मुड़कर देखा अवश्य परन्तु कुछ बोला नहीं। उसकी दृष्टि कक्ष में चारों ओर अन्वेषक के भाव से घूम रही थी।

"वसन्तक !"

"गुरुदेव !"

"कार्य में विलम्ब न करो...मेरा मन कह रहा है, हमारी साधना की परि-समाप्ति में कुछ न कुछ विघ्न अवश्य पड़ेगा..."

"गुरुदेव, कैसा विघ्न..."

"बाहर की सुरक्षा तो व्यवस्थित है न ?"

"हूँ !"

"ठीक है, तुम बलि-वेदिका के समक्ष रहो...मैं देवी-स्तवन का मंत्रोच्चारण करता हूँ, मेरे संकेत पर एक-एक को...अपने बलिवेदिका पर ले आओ। अनुचरों को सन्नद्ध कर लो। इस दुष्ट वणिक पुत्र अजयने देवी की साधन विधि में अपने दुराचरण से बहुत बाधा दी है—इसका बलिदान पाकर देवी को

अवश्य प्रसन्नता होगी—सावधान !" और तब लगा कि जैसे कक्ष में चारों ओर से पिशाचों का ताण्डव हो रहा हो !—एक-एक 'बलि-पशु' के लिए पृथक-पृथक अनुचर सन्नद्ध-भाव से खड़े हो गये। बेचारी तरुणियों में कई उस वीभत्स दृश्य को देख अचेत हो गयीं। कांचन ने अपनी आँखें कस-कर बन्द कर लीं। कापालिक की आँखें बन्द थीं। उसके श्मश्रु मंडित मुख पर क्रूरता की एक मोटी परत पड़ गयी थी। प्रथम जिसकी बारी थी, वह अत्यन्त सुकुमार किशोर था। एक चीत्कार के साथ वह गिरने लगा तो सन्नद्ध अनुचर ने उसे सम्हाल लिया। महाप्रभु वसन्तक बलिवेदिका के पास खड़े हो गये। दिप-दिप करता हुआ विकराल खाँडा उनकी आँखों की एकदम सीध में था।

"वसन्तक, सावधान !" कापालिक मंत्रोच्चारण के बीच सहसा तड़प उठा। महाप्रभु ने भी कोई मंत्र मन ही मन दुहराया और तब खाँडा उनके हाथ में आ गया।

"बलि..."

अनुचर ने उस किशोर को ढकेल कर बलिवेदिका की ओर कर दिया। बेचारा चेतनाहीन-सा धड़ाम से बलिवेदी पर गिर पड़ा। अनुचर ने झपटकर उसे वेदी पर अनुकूल कोण पर लिटा दिया और पीछे हट गया।

"वसन्तक !"

"गुरुदेव, आज्ञा !"

"ओं...ह्रंग...श्रृंग...क्लिंग..."

महाप्रभु की मुख-मुद्रा रौद्र हो गयी। उनके हाथ का खाँडा उठा और मस्तक के ऊपर तक तन गया।

अजय ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। शेष 'बलिपशु' तो इसके पूर्व ही अचेत हो गये थे।

"वसन्तक, विलम्ब न करो ! देवी हम पर, हमारी सफलता पर अत्यन्त प्रसन्न हुई हैं..."

महाप्रभु की भुजायें फड़कीं और तब एक चीत्कार निकलकर वातावरण में फैल गयी। अजय उन्मादी की भाँति अट्टहास कर उठा और...

साधक-बलिदान

शिवदत्त अपने सामने किसी को पाकर ठमक-सा गया। उसके पीछे-पीछे आ रहे पचीस-तीस सशस्त्र-सैनिकों ने सन्नद्ध भाव से देखा, सामने दीवार से चिपकी हुई एक मनुष्याकृति खड़ी है।

"कौन ?"

"मैं हूँ...पूर्णजित् !"

"ओह, आप..."

"आप अपने कार्य में विलम्ब नहीं करें, मैं अपनी रक्षा का बोझ आपको सौंपना नहीं चाहती...जिस कार्य की सिद्धि के निमित्त आप आये हैं, उसमें मैं बाधक भी नहीं बनूँगी, विश्वास रखें बन्धु शिवदत्त..." और वह आगे बढ़ने को हुई तो शिवदत्त ने लपक कर उसकी कलाई पकड़ ली। सैनिक आश्चर्यचकित-से खड़े थे।

"बन्धु पूर्ण, आपके साहस पर मुझे आश्चर्य होता है...परन्तु यहाँ की भयकरता के सम्बन्ध में संभवतः आप मुझसे अधिक नहीं जानते—पग-पग पर मृत्यु की विकरालता नाचती है यहाँ...ऐसी अवस्था में आपका अकेला रहना मुझे सह्य नहीं..." और उसने बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये आगे बढ़ना आरंभ किया। पूर्णा की कलाई अब भी उसके हाथ में थी।

दूर तक अन्धकार में डूबा गुफानुमा वह मार्ग पूर्णा के लिये आना नहीं था। इसी मार्ग से अजय के साथ वह आयी थी। शिवदत्त तो ऐसा चला जा रहा था, जैसे वह मार्ग उसके नित्य प्रयोग में आता हो!

"आपने सब ठीक कर लिया?"

"क्या?..."

"ये सैनिक..."

"ये मेरे अपने प्रभाव से आये हैं। संस्थागार-सदस्यों के समक्ष मैंने यह समस्या और उसका समाधान प्रस्तुत किया परन्तु किसी को विश्वास नहीं हुआ और मैंने उन्हें विश्वास दिलाने की चेष्टा की तो आगामी बैठक तक के लिये समस्या स्थगित करने का प्रस्ताव रखा गया, जो बहुमत से स्वीकृत हुआ। उधर मेरे लिये एक क्षण का बिलम्ब भी असह्य हो उठा था। आज के उपरांत इन नर पिशाचों का संभवतः कोई कुछ बिगाड़ नहीं पाता—इनका साम्राज्य-सा छा जाता वज्जी संघ पर..." सैनिकों और उनके बीच का अन्तर कुछ अधिक हो गया था। मार्ग भी अब पर्याप्त प्रशस्त हो गया था। दोनों की बातें सैनिक सुन नहीं सकते थे।

पूर्णा ने धीरे से अपनी कलाई शिवदत्त के पंजे से छुड़ा ली, जाने कैसा-कैसा-सा लगने लगा था उसे।

"परन्तु शुभे, आप में साहस की कमी नहीं..."

"नारी हूँ; इसीलिये आप व्यंग कर रहे हैं!"

"नहीं-नहीं!"

"जाने दें, आगे की व्यवस्था?..."

"सब निश्चित है। मैंने स्वर्ण की आँच में, इन नर-पिशाचों के दल से कुछ को अपनी ओर पिघला लिया है। आज कापालिक की साधना की परिसमाप्ति है। अजय से मिलकर मैंने सारी योजनायें समझा दी हैं। हाँ, हमें पहुँचने में थोड़ा भी बिलम्ब होगा तो अनर्थ हो जायगा..." दोनों ने अपनी चाल बढ़ा दी। अनुसरण करते सैनिक भी पैर बढ़ाते हुए साथ हो लिये।

"विचित्र है यह संघाराम..." चलते-चलते पूर्णा बोली—"इसका निर्माण किसने कराया था ?"

"अज्ञात है। संभवतः इसके निर्माण को अनेक युग हो चुके हैं। इसका जितना रहस्य इस समय प्रकट है, वह तो मात्र एक अंश मात्र है। मेरा अपना अनुमान है, इस एक संघाराम में सम्पूर्ण वैशाली को वर्षों इस प्रकार रखा जा सकता है, जिसका कोई पता भी नहीं पा सकें..."

"हूँ..."

"कौन, सुनन्दा !" सहसा शिवदत्त उछल कर आगे आ रहा। एक बौद्ध-भिक्षुणी पास ही खड़ी थी। शिवदत्त ने उसके बढ़े हुए हाथ को धीरे से दबाया—"सब ठीक तो है ?"

"हाँ-हाँ !..." वह बोली—"अकेले आये हो ?"

"तीस-पैंतीस सशस्त्र सैनिक साथ हैं !"

"पर्याप्त हैं !" उसने अगल-बगल सतर्कता से निहारते हुए कहा—"महाप्रभु वसन्तक अभी-अभी आये हैं। क्या तुम्हारी रक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ नहीं थी ? उन्होंने आते ही ढीले पड़ गये अंगों को कसना आरम्भ कर दिया है। हाँ, किसी पूर्ण नाम की तरुणी, जो अजय सेन की प्रेयसी है, इन लोगों की दृष्टि पर चढ़ गयी है। और तुम्हें यह जानकर आश्चर्य हुए बिना न रहेगा कि मगध के महामात्य वर्षकार अभी-अभी यहाँ से गये हैं। उनका आना कोई साधारण बात नहीं... मगध-राज का यह गुप्तचर, अपनी कूटनीति में फँसाकर वज्जी-संघ को..." किसी तरह की आहट पा सब एक ओर हो गये। तीन-चार भिक्षु झपटते हुए सामने से निकल गये।

"कौन थे ?"

"ये सब सम्भवतः अन्तःकक्ष से आ रहे हैं !—अब अधिक देर नहीं करनी है हमें !"

"ठीक है, तुम इन लोगों को यथास्थान पहुँचाने की व्यवस्था करो। साधन-कक्ष के दौवारिक अपने ही आदमी हैं, चिन्ता की कोई बात नहीं।

एक आवश्यक कार्य सम्पन्न करता हुआ मैं अविलम्ब पहुँच रहा हूँ। बन्धु पूर्णा, मुझे एक आवश्यक कार्यवश...'' पूर्णा के कुछ करने के पूर्व ही वह एक ओर को घूम पड़ा। पूर्णा का हृदय तीव्रवेग से धड़क रहा था...

• •

एक तीव्र चीत्कार सम्पूर्ण कक्ष में गूँज उठी। कापालिक की आँखें ढँप चली थीं। 'बलिपशुओं' की चेतना लुप्तप्राय थी सो वस्तुस्थिति पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ी थी। अजय के मुख से उल्लसित स्वर में फूटा—''सावधान, शिवदत्त !'' महाप्रभु वसन्तक के पार्श्व में रक्तरंजित खड्ग लिये शिवदत्त रौद्र-मुद्रा में खड़ा था। देवी के चरणों में मुण्ड लोट रहा था परन्तु वह बलि-पशु का नहीं, स्वयं उसके साधक का था...वेदी पर निष्प्राण-सा पड़ा 'बलि-किशोर' रक्त से नहा उठा था। शिवदत्त के एक ही हाथ में महाप्रभु का मस्तक छिटक कर देवी के चरणों का रक्तार्चन कर रहा था।

शिवदत्त ने घूमकर देखा, कापालिक त्रिशूल ताने उठकर खड़ा हो गया था।

''शीघ्रता करो शिवदत्त !—मायावी मंत्रोच्चारण कर रहा है...कुछ ही देर में तुम्हें यह मुग्ध कर लेगा...'' शिवदत्त अपने स्थान से उछल कर एकदम कापालिक के पीछे हो रहा, कापालिक पास ही पड़े पात्र से मूँग के दाने उठाने को हुआ कि 'खच्च' की एक ध्वनि के साथ उसका भी मस्तक देवी के पैरों को रक्त स्नान करा रहा था...तब तक हाथों में खड्ग ताने उसके सैनिक कक्ष में पिल पड़े।

पूर्णा को दोनों हाथों पर उठाये एक सैनिक को अपने पास से निकलता देख अजय चीत्कार-सा उठा—''पूर्णा...'' सैनिक ने अचकचा कर उसकी ओर देखा। महाप्रभु वसन्तक और कापालिक के मुंडों को पैर की ठोकर देता शिवदत्त झपटता हुआ आया—''ओह, यह क्या हो गया ?...'' सैनिकों ने अजय को बन्धन-मुक्त कर दिया था। उसने लपक कर पूर्णा को अपनी गोद में ले लिया—''शिवदत्त, यह सब क्या हो गया...तुमने मुझे वचन दिया

था...'' पूर्णा के वक्ष पर त्रिशूल का एक गहरा घाव हो गया था। सैनिकों ने बताया, अजय को देखते ही वह पागल की भाँति कक्ष की ओर दौड़ी थी परन्तु दौवारिक ने अपने त्रिशूल से पीछे ठेल दिया। शिवदत्त अन्दर चला आया था तथा अन्य सैनिक शेष पिशाचों को ठिकाने लगाने में दत्तचित हो गये थे। किसी ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। संहारोपरांत जब देखा गया तो वह पुरुष नहीं, नारी वेश में अचेत पड़ी थी। गिरते समय उसका वेश-परिवर्त्तन विशृङ्खलित हो उठा था।

"मैं विवश था अजय, तुम्हारी धरोहर की रक्षा नहीं कर सका, इसका अनुताप मुझे आजीवन रहेगा...'' उसी समय कांचन ने आगे बढ़कर अजय के चरणों को पकड़ लिया—"देवता, मैं...मैं...'' और उसका मस्तक एक ओर को लटक गया। शिवदत्त ने उसकी ओर देखा, देखकर उसकी आँखों से दो बूँद लुढ़क कर अजय के पैरों के पास गिर पड़े। अजय की शून्याकार दृष्टि उठी—"शिव, कांचन की परिचर्या की व्यवस्था करो...'' परन्तु उसने अपना मुँह फेर लिया। कक्ष रक्त से रँग उठा था। सभी 'बलि-पशुओं' को बन्धन मुक्त कर बाहर ले जाया गया। अचेत तरुणियों की शूश्रुषा के लिये सुनन्दा तल्लीन हो गयी थी।

"शिव!''

"अजय...''

"कांचन को उठाकर बाहर ले चलो...''

वह मूर्तिवत् खड़ा रहा पूर्ववत्।

उसी समय पूर्णा ने एक लम्बी साँस ली—"अजय...तुम...अजय...''

अजय विह्वल-सा हो उठा—"मैं सकुशल हूँ पूर्णा.. देखो...'' पूर्णा ने धीरे से आँखें खोलीं—पुतलियाँ इधर-उधर घूमीं पुनः आकर अजय पर टिक गयीं।

"अजय...''

"मैं सकुशल हूँ...तुम मेरी गोद में हो...देखो...''

शिवदत्त कांचन के अचेत शरीर के पास धम्म से बैठ गया। वह अचैतन्य थी, स्पन्दन का कहीं पता नहीं चल रहा था।

"शिव !"

"पूर्णा चैतन्य हो गयी...तुम्हारी धरोहर...अब मुझे चिन्ता नहीं बन्धु !..."

अजय ने पूर्णा को धीरे भूमि पर लिटा दिया। वह अब चैतन्य हो रही थी। घाव से रक्त अब भी प्रवाहित हो रहा था। पीड़ा के अतिरेक से वह आँखें नहीं खोल पा रही थी। अजय ने शिवदत्त को झकझोर दिया—"शिव !"

"अजय..."

"कांचन अभी जीवित है शिव..."

"नहीं अजय..."

अजय ने कांचन के अचेत शरीर को सावधानी से उठाकर बाहर पहुँचाया। सुनन्दा ने उसे सम्हाल लिया। पानी का छींटा देने लगी वह उसके मुख पर।

अजय में जाने कहाँ की स्फूर्ति आ गयी थी। दौड़कर वह पूर्णा को भी उठा लाया। सैनिकों के साथ एक भिषगाचार्य भी थे। उन्होंने शीघ्रता से उसके घाव की परिचर्या आरम्भ कर दी।

"शिव !"

"अजय, मेरे मस्तिष्क में..."

"तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है शिव !"

"विश्राम !..." उसके कम्पित होंठों पर सूखी मुस्कान आ गयी—"विश्राम...विश्राम तो जीवन का पाथेय है अजय और जब पाथेय..."

"शिव..."

"अजय...कांचन ने मुझे..."

पानी के छींटों ने कांचन को भी चैतन्य-लाभ कराना प्रारम्भ कर दिया तो सुनन्दा के मुँह से फूट पड़ा—"शिवदत्त...कांचन चैतन्य हो रही हैं..."

अजय और शिव दोनों ही चौंक पड़े।

कांचन सचमुच चैतन्य हो रही थी। उसकी निस्पन्द पलकों में कम्पन हो रहा था।

अजय ने शिव के कंधे पर हाथ रख दिया—"शिव, अपने को सम्हालो... अभी हमें बहुत कुछ करना है...वाम-मार्गियों के इस गढ़ का पूर्णतया उच्छेद होना बहुत आवश्यक है...इस संघाराम के चप्पे-चप्पे को देखना होगा और हाँ, सस्थागार-सदस्यों..."

"अब उनकी आँखों का आवरण हटेगा तो प्रतीत होगा कि धर्म की आड़ में कितनी भयंकर और घृणित नाटिका का अभिनय किया जा रहा था..."

तब तक ऊपर से कोलाहल सुन पड़ा। वज्जी-संघ के नागरिकों, राज-पुरुषों एवं राजकों का दल का दल संघाराम में उपस्थित था। अजय और शिवदत्त की जय-जयकार से संघाराम गूँज रहा था। उन दोनों के स्वागत के लिये नागरिकों का समूह संघाराम के बाहर एकत्र हो रहा था...

परिशाय

समय का चक्र घूमता रहा। अजय और शिव के सतत प्रयत्नों ने वैशाली को कापालिक-आतंक से परिमुक्ति दिलायी। वर्षकार ने जो विष-बीज वैशाली के जीवन में अंकुरित किया था, वह समय-चक्र में पल्लवित होता रहा। वर्षकार का कार्य समाप्त था। वैशाली में रहना जब शंकाप्रद हो गया तो वह षड्यंत्री ब्राह्मण एक रात लुप्त हो गया। अजय और शिव से

भी उसे बहुत शंका हो चली थी। परन्तु जिस विष-बीज का पल्लवन वह कर गया था, वह बढ़ते-बढ़ते विशालकाय वृक्ष का रूप पकड़ता जा रहा था। वज्जी-संघ के उच्चाधिकारी अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करते पर वैशाली के सौहार्दमय-जीवन में जो विष घूर्णित हो गया था, उसे निर्मलता न मिली। उधर मगध-राज वज्जी-संघ की आन्तरिक स्थिति से विज्ञ होकर सैनिक-अभियान में दत्त-चित्त हो गये थे। वर्षकार एवं सुनीथ पाटलिग्राम में वज्जी-संघ के प्रतिरोध के निमित्त दुर्ग-निर्माण में तल्लीन थे।

अपने आन्तरिक दौर्बल्य से अस्त-व्यस्त हो रहे वज्जी-संघ ने अपने को मगध के आक्रमण के प्रतिरोध को तत्पर बनाया, परन्तु उनकी अजेय-शक्ति सन्निपात-बहुलता की जड़ें खोखली हो चली थीं। नींव की ईंटें खिसकती-सी जान पड़ रही थीं।

पाटलिग्राम की अपनी सीमा पर वज्जी-संघ ने भी दुर्ग-निर्माण का कार्य तीव्र गति से आरम्भ कर दिया था। शिवदत्त और अजय प्राणपण से स्वदेश रक्षार्थ तत्पर हो गये थे।

अजय पूर्णा को साथ ही रखे था। उसका वास्तविक परिचय अब किसी पर अप्रकट नहीं था। वह अपने वास्तविक रूप में ही रहा करती थी। वाराणसी जाने का विचार उसने त्याग दिया था।

"पूर्णा !"

"हूँ !"

"हमारी सन्निपात-बहुलता पर आघात पहुँचाकर मगधराज ने सचमुच अपनी विजय-अभिलाषा को साकार कर लिया है..." वह संस्थागार से आ रहा था। मस्तक पर श्वेद-कण मोतियों-से चमचमा रहे थे।

"तब क्या होगा ?"

"जीवन या मरण..."

पूर्णा कुछ बोल नहीं पायी।

"पूर्णा !"

"हूँ !..."

"पितृदेव की आज्ञा है, अभिलाषा भी कि मैं पाणि-ग्रहण कर लूँ !"

पूर्णा चौंकी—"आपको इसमें विरोध क्यों है ?..."

"मुझे विरोध नहीं पूर्णा !"

"तब ?..."

"तुम्हारी सम्मति !..."

"पर...पर मेरी सम्मति की आवश्यकता ?..."

"पूर्णा !..." वह अचकचा गया।

पूर्णा के अरुणाधरों पर स्मिति रंजित हो उठी—"देख रही हूँ, आप पाणिग्रहण के सम्बन्ध में अत्यन्त चिन्ताग्रस्त हो उठे हैं। क्या किसी योग्यपात्र का चुनाव अभी नहीं हो पाया है ?..." कहकर उसने ताम्बूल-पात्र उसकी ओर खिसका दिया—"ताम्बूल ग्रहण करें। पाणिग्रहण की चिन्ता करने से तो कुछ होने का नहीं। कोई योग्यपात्र मिल जायगा तो सब कुछ अपने आप निश्चित हो जायगा..."

"पूर्णा, मुझे पीड़ित करने में तुम्हे क्या मिल जाता है ?"

"मानसिक आनन्द !"

"ओह..."

"ताम्बूल..."

"नहीं..."

"तब क्या आपको अभी ही पाणिग्रहण की चिन्ता समाप्त करनी है ?..."

"नहीं, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रही..."

"क्यों ?" उसकी गंभीरता से पूर्णा चौंकी।

अजय उठ पड़ा। पूर्णा घबरा गयी—"आप जा रहे हैं ?"

"तो क्या करूँ ?..."

"मुझसे कोई अपराध तो नहीं बन पड़ा...मैं क्षमाप्रार्थिनी हूँ आर्य..."

"पूर्णा, तुम हो क्या ?"

"वाराणसी की साधारण 'रूपा-जीवा'—बस, और कुछ नहीं !..."

अजय का मस्तक घूम उठा। वह उठने को हुआ...

"आर्य-पुत्र !"

"नहीं, अजय ही ठीक रहेगा..."

"आपको मैंने पीड़ा पहुँचाई है, आप मुझसे रुष्ट हैं...पर सच मानिये, मेरा ऐसा मन्तव्य नहीं था..."

"क्यों ?—पूर्णा, तुम सब कुछ जानकर भी कुछ न जानने का नाटक क्यों करती हो ?"

"मैं...मैं..."

"तुमसे आज मैं अन्तिम निर्णय पा लेना चाहता हूँ—तुम मेरी जीवन-संगिनी हो सकती हो या नहीं ?—मुझे स्पष्ट उत्तर दे दो तुम पूर्णा !—तुमको कोई संकोच हो, असुविधा हो तो मैं तुम्हें बाध्य नहीं करूँगा !..."

"मैं रूपा-जीवा हूँ..."

"हूँ नहीं, थीं..."

"आपकी पारिवारिक-परम्परा...प्रतिष्ठा..."

"अपने जीवन से बढ़कर नहीं मानता पूर्णा..."

"श्रद्धेय पितृदेव को यह विदित है ?"

"हूँ..."

"उन्हें स्वीकार है ?..."

"अभी निर्णय हो जायगा..." और वह पूर्णा की कलाई पकड़, उसे घसीटता हुआ-सा बाहर ले चला।

पूर्णा विरोध नहीं कर सकी। वृद्ध ने पूर्णा और अजय को वैसी स्थिति में आता देखा तो चकित हो उठे।

"वत्स अजय !"

"पितृदेव, पूर्णा और मैं...मैं और पूर्णा..." वृद्ध की मस्तक-रेखायें शीघ्रता से उगने-मिटने लगीं।

"पूर्णा मेरी जीवन-संगिनी है पितृदेव !"

"हूँ !..."

"पितृदेव..."

"वत्से पूर्णा !..."

पूर्णा ने दृष्टि उठाई। आँखों ने ही जैसे पूछ लिया—"क्या है पितृदेव ?"

"तुम्हें स्वीकार है यह वत्से !"

"पितृदेव, मैं रूपा-जीवा रही हूँ !"

"तो क्या हुआ..."

वह भूमिष्ठ होकर वृद्ध के चरणों पर लोट गयी। उसके हृदय की धड़कनें अस्थि फाड़कर निकल भागना चाहती थीं। अजय ने भी धीरे से अपने को पिता के चरणों में डाल दिया। वृद्ध की आँखों में स्नेहावेग गीलापन बनकर झाँक उठा।

परिनिर्वाण की ओर

भगवान् गौतम राजगृह से अम्बलठिका आदि स्थानों में विहरते हुए पाटलिग्राम आये। पाटलिग्राम मगध और वज्जी-संघ की सीमा थी। दोनों राज्यों की पर्याप्त सेना पाटलिग्राम स्थित दुर्गों में स्थित रहा करती थी। इधर जब से मगध-राज ने पाटलिग्राम में अपना नवीन सामरिक, दुर्ग बनवाने के निमित्त, अपने महामात्यों वर्षकार और सुनीथ को पाटलिग्राम भेजा था, तब से वज्जी-संघ की सीमा में भी सैनिक-सनसनी व्याप्त हो गयी थी। दोनों सीमाओं

की सैनिक-तत्परता देख भगवान् ने चकित-भाव से आयुष्मान् आनन्द को आमंत्रित किया—"आनन्द, पाटलिग्राम में यह कैसी चहल-पहल है ?"

आनन्द नतमस्तक होकर बोला—"भन्ते, मगधराज के महामात्य वर्षकार और सुनीथ दुर्ग निर्माण कर रहे हैं ?"

"किसलिये ?"

"वज्जियों के उच्छिन्न के निमित्त !"

"ओह !" भगवान् ने एक दीर्घ निश्वास लिया—"वज्जी-पतन की संभावना क्या तू नहीं देख रहा है आनन्द !"

"भन्ते..."

"मैं देख रहा हूँ आनन्द !"

"भन्ते !" आनन्द के मस्तक पर चिन्ता की रेखायें स्पष्ट हो आयीं—"तब तो अनर्थ हो जायगा..."

"वज्जी-संघ अपनी सन्निपात-बहुलता खो चुका है आनन्द और अब उन पर कोई भी शक्ति बल-प्रयोग कर सकती है !"

"भगवान्, यह तो मगधराज का अन्याय होगा..."

"अन्याय तो होगा आनन्द परन्तु अब कुछ हो नहीं सकता...मेरी आत्मा को बहुत पीड़ा पहुँच रही है इस स्थान में। मगध-राज अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा..." और भगवान् एकाएक मौन हो गये। आनन्द चकित भाव से उनकी ओर निहारता खड़ा रहा।

यह समाचार पाकर कि भगवान् पाटलिग्राम में पधारे हैं, मगध-महामात्य सुनीथ और वर्षकार भागे-भागे आये। भगवान् उस समय आनन्द को बौद्ध-वाणी से परितृप्त कर रहे थे। उन दोनों को आया जान उन्होंने कहा—"कहो आवुस !..."

"भगवान्, भिक्षु-संघ के साथ आज हमारा भात (भोजन) स्वीकार कर अनुगृहीत करें !"

भगवान् मौन ही रहे। वे पुनः आयुष्मान आनन्द को धर्मवाणी सुनाने

में तल्लीन हो गये। वर्षकार और सुनीथ ने भगवान् को मौन देख, स
लिया, उन्होंने भात स्वीकार कर लिया है। वे भगवान् को प्रणाम कर
गये तो आनन्द ने शंका प्रकट की—"भन्ते, क्या आपने इन कुचक्रियों
भात स्वीकार कर लिया..."

"हाँ, आनन्द !"

"मुझे शंका है भन्ते !"

"तुझे शंका है, इसे मैं जानता हूँ आनन्द परन्तु यह मेरा अपना
था, कर्तव्य था। अपने को कर्त्तव्य-हन्ता नहीं बनाना चाहिये आनन्द !"

"भन्ते, वे षड्यंत्री हैं, अन्यायी हैं..."

"आनन्द, हमें उनके आचरण पर ध्यान नहीं देना चाहिये...वह
करेंगे, वैसा भुगतेंगे—श्रमणों को कौन कैसा है, क्या करता है ?—
ध्यान न देकर अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये...मेरी कामना है, ए
वैशाली—उस देव-नगरी में भ्रमण कर लूँ...संभवतः यह मेरा अन्तिम-वै
दर्शन होगा आनन्द !"

आनन्द ने भगवान के स्वर में जो गांभीर्य देखा, वह उसे चौंका
पर्याप्त था। उसका हृदय भड़क उठा—"मेरा मन बहुत विकल हो र
आप में इधर जो परिवर्त्तन लक्ष्य कर रहा हूँ वह...वह..." और आ
कुछ कह नहीं पाया। उसका स्वर रुद्ध हो उठा था।

तभी दौड़ता हुआ-सा अजय पूर्णा के साथ भगवान् के चरणों
पड़ा—"भगवान्...हमें शक्ति प्रदान करें भगवान्...मैंने...लिच्छि
विवश होकर..."

भगवान् ने दोनों को उठाया—"अजय आवुस, मुझसे कुछ छि
जो कुछ तुमने किया, वह यद्यपि उचित तो नहीं था तथापि
विवशता थी...आवश्यकता थी अस्तु, तुम्हारा कोई दोष नहीं। तथाग
में वैशाली के लिये पूर्ववत् स्नेभाव है, रहेगा..." दोनों ने गद्
तथागत् को प्रणाम किया।

"तुम जाओ आवुस, मैं शीघ्र ही वैशाली आ रहा हूँ। वहाँ तुम सबको मेरा अन्तिम धर्मोपदेश सुनने को मिलेगा। अपने कर्त्तव्य-पथ से विमुख नहीं होना—बस...यही मेरी आज्ञा है...और भगवान् ध्यान-मग्न हो गये। आनन्द जल्दी-जल्दी पंखा झलने लगा।

● ●

वज्जी-संघ को उच्छिन्न करने की महत्वाकांक्षा में मत्त अजातशत्रु अपनी सैन्य-शक्ति के विकास में तल्लीन था। वैशाली के जन-जीवन में व्याप्त फूट और असौहार्द की ज्वाला, धधकती रही, धधकती रही...

प्रकाशन-क्षेत्र में

स्फोट

पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमने शीघ्र ही---

चिनगारी ऐतिहासिक-उपन्यास-माला

एवं

'नागिन-साहसिक-उपन्यास-माला'

के अन्तर्गत २५० पृष्ठ का एक-एक उत्कृष्ट उपन्य शीघ्र ही 'माला' के साधारण मूल्य केवल पन्द्रह आने प्रस्तुत करने का निश्चय कर लिया है।

हम अपने इस साहस पूर्ण प्रयत्न में तभी सफल हो सकेंगे जब आ अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होता रहे। 'माला' हर मास की १५ तारीख प्रकाशित हो जाती है। आप अपने निकट के एजेन्ट या पुस्तक विक्रेत अपनी प्रति सुरक्षित कर लें। हमारा विश्वास है, हमारी दोनों मालाओं उपन्यास आपको सदैव संतुष्ट रखेंगे।

आप स्वयं तो हमारा सहयोग करें ही अपने मित्रों परिचितों का ध्यान इस ओर आकर्षित करायें। 'माला' आपकी अपनी है अस्तु उसके प्रचार-प्र को आपका अमूल्य अपनापा प्राप्त होगा—ऐसी आशा है।

विस्तृत विवरण आगामी मास

एजेण्टों एवं पुस्तक विक्रेताओं के लिये पर्याप्त कमीशन की व्यवस्था है।

व्यवस्थापक चिनगारी प्रकाशन,
बनारस

शीघ्र ही—

देय तिथि	देय तिथि

नोट – पुस्तक निश्चित तिथि पर न लौटाने पर 5 पैसे प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

पुस्तकाध्यक्षा